Chapter दो

नौ योगेन्द्रों से महाराज निमि की भेंट

इस अध्याय में नारद मुनि महाराज निमि तथा नौ योगेन्द्रों के बीच हुई वार्ता को श्रद्धालु तथा जिज्ञासु वसुदेव को सुनाकर भागवत धर्म की शिक्षा देते हैं।

भगवान् कृष्ण का दर्शन पाने के लिए परम इच्छुक देवर्षि नारद प्राय: द्वारका में ही रहते थे। पूर्वकाल में वसुदेव ने भगवान् की माया से मोहित होकर पुत्र-प्राप्ति के उद्देश्य से भगवान् अनन्त की पूजा की थी, किन्तु मुक्ति के लिए पूजा करने से चूक गये थे।

एक बार नारद मुनि वसुदेव के घर पधारे। वसुदेव ने उचित आदर देकर उनकी पूजा की, उनका सादर सत्कार किया और उस शुद्ध भक्ति के विषय में सुनाने के लिए उनसे प्रार्थना की, जो सभी प्रकार के भयों से मुक्त करने वाली है। नारद ने वसुदेव की स्थिर मति की प्रशंसा की और विदेह-राज निमि तथा ऋषभदेव के पुत्र, नौ योगेन्द्रों के मध्य हुई वार्ता का पुराना इतिहास कह सुनाया।

स्वायंभुव मनु का पुत्र प्रियव्रत था। उसका पुत्र आग्निध्र था, जिसका पुत्र नाभि हुआ। नाभि के पुत्र रूप, वासुदेव के स्वांश रूप में, ऋषभदेव ने अवतार लिया। ऋषभदेव के सौ पुत्र हुए, जिनमें से सबसे ज्येष्ठ पुत्र भरत था, जो नारायण का परम भक्त था, जिसके नाम पर यह पृथ्वी, भारतवर्ष के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसके पूर्व वह अजनाभवर्ष कहलाती थी। ऋषभदेव के अन्य नौ पुत्र *नव योगेन्द्र* कहलाते थे—ये थे कवि, हविर्, अन्तरीक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस तथा करभाजन। वे आत्मज्ञान में निपुण थे और अपने लक्ष्य में स्थिर थे तथा सिद्धि के लिए सतत प्रयत्नशील रहते थे। ऋषभदेव के अन्य नौ पुत्रों ने क्षत्रिय धर्म स्वीकार किया और नवद्वीपों के स्वामी हुए, जिनसे मिलकर

भारतवर्ष बना था। उनके अन्य ८१ पुत्र श्रुतियों में पारंगत ब्राह्मण बने, जिन्होंने सकाम यज्ञ के मार्ग का प्रचार किया।

ये नौ योगेन्द्र बिना किसी बाधा के इच्छानुसार कहीं भी आ–जा सकते थे। ये भगवान् मधुसूदन के प्रत्यक्ष पार्षद थे और ब्रह्माण्ड के विभिन्न लोकों को सुरक्षा प्रदान करने के लिए मुक्तभाव से विचरण करते थे। मानव शरीर किसी भी क्षण नष्ट हो सकता है, तो भी यह अतीव दुर्लभ उपलब्धि है। इससे भी दुर्लभ है इस मानव शरीर के होते हुए भगवान् के वैकुण्ठवासी विश्वस्त भक्तों की संगति। ऐसे सन्त–पुरुषों की संगति, चाहे क्षण के भी भिन्नांश के लिए क्यों न हो, जीव को सारे लाभ प्रदान करने वाली है। इसलिए राजा निमि ने नवों योगेन्द्रों को समुचित आसन प्रदान किया, उनकी पूजा की, उन्हें विनीत होकर नमस्कार किया और उनसे प्रसन्नतापूर्वक *भागवत धर्म* के विषय में पूछा। भागवत धर्म या शुद्ध भगवद्भक्ति आत्मा के लिए एकमात्र परम सौभाग्य है। ऐसी सेवा से प्रसन्न होकर भगवान् भक्त को आत्मसमर्पण कर देते हैं।

राजा के प्रश्न का उत्तर देने के लिए नौ योगेन्द्रों में से कवि इस प्रकार बोला, ''प्रगति के वे साधन, जिनका वर्णन स्वयं भगवान् ने किया है और जिनके द्वारा मूर्खों को भी पूर्ण आत्म–साक्षात्कार प्राप्त हो जाता है, *भागवत धर्म* कहलाते हैं। यह भागवत् धर्म अच्युत भगवान् के चरणकमलों की सेवा के रूप में प्रकट होने वाला है और जीव के सारे भय का उन्मूलन करता है। इस भागवत धर्म का पालन करने पर यदि कोई व्यक्ति दोनों आँखें मूंद कर भी दौड़े, तो वह लड़खड़ायेगा नहीं और गिरेगा भी नहीं। मनुष्य अपने शरीर, मन, वचन, बुद्धि, चेतना, इन्द्रियों एवं स्वाभाविक प्रवृत्ति इत्यादि से जो भी करता है, वह सब भगवान् नारायण को अर्पित किया जाना चाहिए। जो लोग भगवान् के चरणकमलों से प्रीति नहीं करते वे माया के वशीभूत हो जाते हैं। वे ईश्वर के स्वरूप को भूल जाते हैं और अपने को नश्वर शरीर मानने से माया के पाश में फँस जाते हैं। भौतिक आकर्षण के फेर में आकर वे अत्यन्त भयभीत हो उठते हैं। इसलिए उनके लिए सबसे अच्छी बात यही है कि वे योग्य गुरु को अपना जीवन अर्पित कर दें और पूर्ण भक्ति के साथ माया के परम नियन्ता भगवान् की पूजा करें। जिस प्रकार भोजन करने से धीरे धीरे भूख बुझती है और हर कौर से सन्तोष मिलता है, उसी तरह शरणागत भक्त को कृष्ण के

अतिरिक्त अन्य प्रत्येक वस्तु से विरक्ति होने लगती है, भगवान् का साकार अनुभव होता है और साथ साथ भगवत्प्रेम का आस्वादन मिलता है।''

इसके बाद हविर् ने प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय कोटि के भक्तों के लक्षण बतलाये। ''जो व्यक्ति श्रद्धापूर्वक भगवान् विष्णु के अर्चाविग्रह की नियमित पूजा करता है, किन्तु वैष्णवों के प्रति तथा विष्णु से सम्बन्धित वस्तुओं में अनुरक्ति नहीं रखता, वह भौतिकतावादी भक्त है। जो व्यक्ति भगवान् से प्रेम करता है, भगवद्भक्तों से मैत्री रखता है, अज्ञानियों पर दया दिखाता है और विष्णु तथा वैष्णवों के शत्रुओं के प्रति उदासीनता बरतता है, वह मध्यम भक्त है। और जो भक्त हर वस्तु में भगवान् की उपस्थिति देखता है और हर वस्तु को भगवान् के भीतर देखता है, वह सर्वोच्च भक्त है।'' प्रथम कोटि के भक्त का वर्णन आठ श्लोकों में हुआ है, जिनके अन्त में कहा गया है कि ऐसा प्रथम कोटि का भक्त भगवान् को सदैव प्रेम के बन्धन से अपने हृदय में बाँधे रखता है। भगवान् हरि ऐसे भक्त के हृदय से कभी दूर नहीं जाते।

श्रीशुक उवाच
गोविन्दभुजगुप्तायां द्वारवत्यां कुरूद्वह ।
अवात्सीन्नारदोऽभीक्ष्णं कृष्णोपासनलालसः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुक ने कहा; गोविन्द—भगवान् गोविन्द की; भुज—बाहुओं से; गुप्तायाम्—सुरक्षित; द्वारवत्याम्—द्वारवती राजधानी में; कुरु-उद्वह—हे कुरुश्रेष्ठ; अवात्सीत्—रह रहे; नारदः—नारद मुनि; अभीक्ष्णम्—निरन्तर; कृष्ण-उपासन—कृष्ण की पूजा में लगे रहने की; लालसः—लालसा से।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे कुरुश्रेष्ठ, भगवान् कृष्ण की पूजा में संलग्न रहने के लिए उत्सुक नारद मुनि कुछ काल तक द्वारका में रहते रहे, जिसकी रक्षा गोविन्द सदैव अपनी बाहुओं से करते थे।

तात्पर्य : इस स्कन्ध के द्वितीय अध्याय में नारद मुनि जिज्ञासु वसुदेव से *भागवत धर्म* की व्याख्या कर रहे हैं। नारद मुनि राजा निमि तथा जायन्तेय के मध्य हुई वार्ता का उद्धरण देते हैं। जीव गोस्वामी के अनुसार *अभीक्ष्णम्* शब्द सूचित करता है कि यद्यपि भगवान् कृष्ण नारद को प्राय: इधर-उधर विभिन्न लीलाओं के लिए, यथा संसार का समाचार जानने के लिए भेजते रहते थे, किन्तु नारद मुनि द्वारका में रहने के लिए लगातार लौट आते थे। *कृष्णोपासन लालसः* शब्द सूचित करते हैं कि नारद

भगवान् कृष्ण के निकट रहकर उनकी पूजा करते रहने के लिए परम उत्सुक रहते थे। दक्ष के शाप के कारण नारद को किसी स्थान में लगातार रहने की अनुमति नहीं है। किन्तु श्रीधर स्वामी ने संकेत किया है *न तस्यां शापादेः प्रभावः*—द्वारका में शापों या अन्य ऐसी बुराइयों का कोई प्रभाव नहीं होता है, क्योंकि द्वारका भगवान् का धाम है और सदैव उनकी भुजाओं से रक्षित रहता है जैसाकि *गोविन्द-भुज-गुप्तायाम्* शब्दों से प्रकट है। बद्धजीव माया के साम्राज्य के अन्तर्गत प्रकृति के क्रूर नियमों के विरुद्ध यथा जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि से संघर्ष करते रहते हैं। किन्तु यदि इन्हीं बद्धजीवों को भगवान् की पुरी में द्वारका, मथुरा या वृन्दावन में प्रवेश करने का सौभाग्य मिलता है और वे भगवान् कृष्ण के सर्वशक्तिमान बाहुओं के प्रत्यक्ष संरक्षण में रहते हैं, तो वे असली जीवन के असीम आनन्द का अनुभव करेंगे, जो नित्य है और ईश्वर की निजी संगति में रहने के निमित्त है।

को नु राजन्निन्द्रियवान्मुकुन्दचरणाम्बुजम् ।
न भजेत्सर्वतोमृत्युरुपास्यममरोत्तमैः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

कः—कौन; नु—निस्सन्देह; राजन्—हे राजा; इन्द्रिय-वान्—इन्द्रियों से युक्त; मुकुन्द-चरण-अम्बुजम्—भगवान् मुकुन्द के चरणकमलों को; न भजेत्—नहीं पूजेगा; सर्वतः-मृत्युः—सभी ओर से मृत्यु का सामना करते हुए; उपास्यम्—पूज्य; अमर-उत्तमैः—सर्वश्रेष्ठ मुक्त पुरुषों द्वारा।

हे राजन्, इस भौतिक जगत में बद्धजीवों को जीवन के पग-पग पर मृत्यु का सामना करना पड़ता है। इसलिए बद्धजीवों में ऐसा कौन होगा, जो बड़े से बड़े मुक्त पुरुष के लिए भी पूज्य भगवान् मुकुन्द के चरणकमलों की सेवा नहीं करेगा।

तात्पर्य : इस श्लोक में *इन्द्रियवान्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है "इन्द्रियों से युक्त"। यद्यपि हम भौतिक जगत के भीतर बद्ध हैं, किन्तु भगवान् की कृपा से हमें मनुष्य शरीर मिला हुआ है, जिसमें विभिन्न इन्द्रियाँ होती हैं यथा, आँखें, कान, जीभ, नाक तथा त्वचा। सामान्यतया बद्धजीव इन्द्रियतृप्ति के लिए इन इन्द्रियों का उपयोग भौतिक प्रकृति का शोषण करने के मिथ्या प्रयास में करते हैं। किन्तु हमारी भौतिक इन्द्रियाँ तथा उनके विषय क्षणिक हैं और माया द्वारा प्रदत्त इन क्षणिक विषयों से युक्त अपनी क्षणिक इन्द्रियों को तुष्ट करने के प्रयास में शान्त या सुखी रह पाना सम्भव नहीं है। वस्तुतः भौतिक इन्द्रियों को तुष्ट करने के हमारे अथक प्रयास अनिवार्य रूप से विपरीत परिणाम अर्थात् भौतिक कष्ट लाने वाले होते हैं। पुरुष स्त्री द्वारा आकृष्ट होता है। कामवासना जागृत होने से वह उसके साथ

विवाह कर लेता है और शीघ्र ही उसका परिवार बन जाता है, जिसे अधिकाधिक लालन-पालन करने की आवश्यकता होती है। इस तरह उसका निर्दोष तथा सरल जीवन समाप्त हो जाता है और वह अपने जीवन का अधिकांश अपने परिवार की आवश्यकताओं को पूरा करने में गधे की तरह कठिन श्रम करते हुए व्यतीत करता है। *श्रीमद्भागवत* के तृतीय स्कन्ध में भगवान् कपिल स्पष्ट बतलाते हैं कि आजीवन अथक कार्य करने के बावजूद परिवार के लोग पिता से असन्तुष्ट रहते हैं और जब थका-मांदा पिता वृद्धावस्था को प्राप्त होता है, तो परिवार के चिढ़े हुए सदस्य उससे उसी तरह व्यवहार करते हैं, जिस तरह किसान अपने बूढ़े तथा अनुपयोगी बैल से करता है। कभी कभी पुत्रगण अपने पिता के धन को उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त करने के सपने देखते हैं और चुपके-चुपके उसके मरने की बाट जोहते हैं। आजकल लोग वृद्ध माता-पिता की शुश्रूषा करने के कष्ट से चिढ़ते हैं, अतएव उन्हें ऐसे संस्थानों में भेज देते हैं, जहाँ वे अपने तथाकथित प्रियजनों के लिए जीवन-भर कठोर श्रम करते रहने पर भी अकेले उपेक्षित मर जाते हैं। इंगलैड के एक डाक्टर का कष्ट-रहित-मृत्यु का सुझाव है कि जो वृद्ध व्यक्ति कार्य न कर सकें, उन्हें दवा देकर मार डाला जाय।

आजकल कुछ लोग भौतिक इन्द्रियतृप्ति की इच्छा करते हुए पारिवारिक जीवन की असुविधा से बचने की आशा से स्त्रियों के साथ "मुक्त" यौन सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं, जिससे विवाह की मुसीबत न उठानी पड़े। जन्म निरोध तथा गर्भपात द्वारा वे बच्चों के पालन-पोषण की झंझट से मुक्त हो लेते हैं। इस तरह बिना किसी भौतिक रुकावट के वे भौतिक इन्द्रियतृप्ति का आनन्द लूटने की आशा करते हैं। किन्तु प्रकृति के नियमों के द्वारा ऐसे व्यक्ति भगवान् के प्रति अपने असली कर्तव्य से बचने एवं अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए अन्यों को बिना किसी विचार के हिंसा तथा कष्ट पहुँचाने के कारण पाप के जाल में बंध जाते हैं। अपवित्र कार्यों के जाल में बँधकर वे अपनी मूल शुद्ध चेतना से दूर होते जाते हैं और धीरे धीरे प्रकृति के नियमों को समझने की सारी शक्ति गँवा बैठते हैं। इसीलिए यहाँ पर *सर्वतोमृत्यु:* कहा गया है। मृत्यु सहसा प्रकट होती है, जिससे ऐसे आश्वस्त इन्द्रियभोक्ता चौंक पड़ते हैं और मृत्यु उनके तथाकथित सारे भौतिक सुख के कार्यक्रमों को विनष्ट कर देती है। प्राय: ऐसे लोगों को भयानक रोग लग जाते हैं और उन्हें अकथनीय कष्ट भोगना पड़ता है, जिसका अन्त मृत्यु के साथ होता है। यदि कोई शुभेच्छु उनसे इन तथ्यों का संकेत करता है और उन्हें असलियत बताने का प्रयास

करता है, तो वे नाराज होकर उस पर धार्मिक मनचला या निराशावादी होने का दोषारोपण करते हैं। इस तरह से प्रकृति के नियमों की तनिक भी परवाह नहीं करते, जब तक कि ये नियम उसे ध्वस्त नहीं कर देते और उन्हें निराधार आशा के लोक से बाहर नहीं निकाल फेंकते। पापमय फलों के अत्यधिक संचयन के फलस्वरूप कर्म के नियमों द्वारा उन्हें महान् कष्ट भोगना पड़ता है। जीवन की निम्न योनियों में गिर कर वे स्थूल इन्द्रियों के परे सारी वस्तुओं की समस्त जागरूकता खो देते हैं।

कभी कभी जीव भौतिकतावादी इन्द्रियतृप्ति के दुखद प्रभाव को समझ पाता है। भौतिकतावादी जीवन की वेदना तथा कष्ट से हताश होकर तथा उच्चतर जीवन से अनजान होकर वह नव-बौद्ध दर्शन को ग्रहण करके तथाकथित शून्यवाद की शरण ढूँढ़ता है। किन्तु भगवान् के साम्राज्य में वास्तविक शून्य नहीं है। शून्य से तदाकार होने की इच्छा भौतिक पीड़ा के विरुद्ध प्रतिक्रिया होती है। यह ब्रह्म की कोई बोधगम्य धारणा नहीं है। उदाहरणार्थ, यदि मेरे पाँव में असह्य पीड़ा हो और वह ठीक न की जा सके, तो अन्ततोगत्वा मैं अपना पाँव कटाने के लिए तैयार हो जाऊँ। किन्तु पीड़ा को हटाना और अपने पाँव को बनाये रखना अधिक उत्तम होगा। इसी तरह हम मिथ्या अहंकारवश सोचते हैं, ''मैं सर्वेसर्वा हूँ। मैं सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति हूँ। मेरे बराबर कोई बुद्धिमान नहीं।'' इस तरह सोचते हुए हम निरन्तर कष्ट पाते हैं और गहन चिन्ता का अनुभव करते हैं। किन्तु ज्योंही हम अपने को कृष्ण का क्षुद्र नित्य दास स्वीकार करके अहंकार को हटा देते हैं, त्योंही हमारा अहंकार हमें महान् आनन्द प्रदान करता है।

वैकुण्ठ के स्वामी श्रीकृष्ण सदैव दिव्य आनन्द में निमग्न रहते हैं। वस्तुत: श्रीकृष्ण समस्त आनन्द के आगार हैं। भौतिकतावादी भोग में डूबे लोग सर्वव्यापक मृत्यु के नियमों से बँधे हैं, किन्तु यदि हम भगवान् की सेवा करने का प्रयास करें, तो हम तुरन्त उनकी *ह्लादिनी शक्ति* से जुड़ जाते हैं। यदि हम कृष्ण के प्रामाणिक प्रतिनिधि, गुरु, के मार्गदर्शन में उनकी सेवा करें, तो हमें भौतिक कष्ट से तुरन्त छुटकारा मिल सकता है। तब हम शून्य के पीछे नहीं दौड़े, अपितु भगवान् की सेवा में असीम आध्यात्मिक आनन्द का आस्वाद अनुभव करेंगे।

सर्वतोमृत्यु: यह भी सूचित करता है कि जन्म तथा मृत्यु ब्रह्माण्ड के प्रत्येक लोक में हैं। अतएव हमारे ये तथाकथित अन्तरिक्ष यात्रा तथा विश्वचेतना व्यर्थ हैं, क्योंकि मौलिक जगत में कहीं भी नित्य जीवन नहीं है। अन्त में कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की सेवा में लगने की व्यर्थता को समझना

और नित्य तथा आनन्दमय की सेवा करना बुद्धि का सर्वोच्च विकास है। यद्यपि हमारी वर्तमान बुद्धि संकुचित है और प्रकृति के नियमों द्वारा बद्ध है, किन्तु नश्वर तथा व्यर्थ एवं नित्य तथा असली के मध्य भेद करना सीख कर भगवान् मुकुन्द के चरणकमलों की शरण ग्रहण करके अपने लिए असीम सौभाग्य की सृष्टि कर सकते हैं।

तमेकदा तु देवर्षिं वसुदेवो गृहागतम् ।
अर्चितं सुखमासीनमभिवाद्येदमब्रवीत् ॥ ३॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; एकदा—एक बार; तु—तथा; देव-ऋषिम्—देवताओं के बीच ऋषि, नारद को; वसुदेवः—कृष्ण के पिता वसुदेव ने; गृह-आगतम्—अपने घर पर आये हुए; अर्चितम्—सामग्री द्वारा पूजन किया; सुखम् आसीनम्—सुखपूर्वक बैठे हुए; अभिवाद्य—आदरपूर्वक सत्कार करके; इदम्—यह; अब्रवीत्—कहा।

एक दिन देवर्षि नारद वसुदेव के घर आये। उनकी उपयुक्त सामग्री से पूजा करके, सुखपूर्वक बिठाने तथा सादर प्रणाम करने के बाद वसुदेव इस प्रकार बोले।

श्रीवसुदेव उवाच
भगवन्भवतो यात्रा स्वस्तये सर्वदेहिनाम् ।
कृपणानां यथा पित्रोरुत्तमश्लोकवर्त्मनाम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

श्री-वसुदेवः उवाच—श्री वसुदेव ने कहा; भगवन्—हे प्रभु; भवतः—आपका; यात्रा—आगमन; स्वस्तये—लाभ के लिए; सर्व-देहिनाम्—समस्त देहधारी प्राणियों के; कृपणानाम्—अत्यन्त दुखियारों के; यथा—जिस तरह; पित्रोः—पिता का; उत्तम-श्लोक—उत्तम श्लोकों से जिनकी प्रशंसा की जाती है, ऐसे भगवान्; वर्त्मनाम्—जो मार्ग पर स्थित हैं, उनके।

श्री वसुदेव ने कहा : हे प्रभु, जिस तरह पिता का आगमन उसके बच्चों के लिए लाभप्रद होता है, उसी तरह आपका आगमन सारे जीवों के लाभ के लिए है। आप उनमें से जो अत्यन्त दुखियारे हैं तथा साथ ही साथ वे जो उत्तमश्लोक भगवान् के पथ पर अग्रसर हैं, उनकी विशेष रूप से सहायता करते हैं।

तात्पर्य : वसुदेव यहाँ पर नारद मुनि की महिमा का वर्णन करते हैं। *कृपणानां यथा पित्रोरुत्तमश्लोकवर्त्मनाम्* पद महत्त्वपूर्ण है। *कृपणानाम्* द्योतक है अत्यन्त दीन-दुखियारों का तथा *उत्तमश्लोकवर्त्मनाम्* उन अत्यन्त भाग्यशालियों का जो कृष्णभावनामृत के मार्ग में अग्रसर हैं। श्रीधर स्वामी ने कहा है *तथा भगवद्रूपस्य भवतो यात्रा सर्वदेहिनां स्वस्तय इति। भगवद्रूपस्य* शब्द बताता है कि नारद मुनि भगवान् के अंश हैं, इसलिए उनके कार्य सारे जीवों के लिए अत्यन्त कल्याणप्रद हैं।

श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध में नारद मुनि को भगवत्कृपा का मूर्तरूप बतलाया गया है। वहीं यह कहा गया है कि नारद को कृष्णभक्ति की कला का उपदेश देने की विशेष शक्ति प्रदत्त है। नारद मुनि बद्धजीवों को यह उपदेश देने में विशेष समर्थ हैं कि वे किस तरह अपने वर्तमान कार्यों को, अपने वर्तमान जीवन में किसी प्रकार का व्यतिक्रम उत्पन्न किये बिना ही, कृष्ण-भक्ति के साथ साथ सम्पन्न करें।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ने *कृपण* शब्द की परिभाषा *बृहदाराण्यक उपनिषद* से (३.९.१०) उद्धरण देते हुए दी है। *एतद् अक्षरं गार्गि अविदित्वासमाल्लोकात् प्रैति स कृपणः*—हे गर्गाचार्य की पुत्री! जो व्यक्ति अच्युत ब्रह्म के विषय में कुछ जाने बिना ही इस संसार से चला जाता है, वह कृपण या कंजूस है। दूसरे शब्दों में, हमें मनुष्य-जीवन इसलिए प्रदान किया जाता है कि हम भगवान् के साथ अपने नित्य आनन्दमय सम्बन्ध को समझ सकें। जैसाकि इसी अध्याय के दूसरे श्लोक में *इन्द्रियवान्* शब्द द्वारा सूचित है मनुष्य-शरीर विशेष रूप से इसलिए मिला है कि हम भगवान् कृष्ण की सेवा कर सकें। यह मानव-शरीर सबसे बड़ा सौभाग्य है, क्योंकि मनुष्य की अत्यन्त विकसित बुद्धि, उस परम सत्य कृष्ण को समझ पाने में सक्षम बनाती है। यदि हम ईश्वर के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को नहीं समझ सकते, तो हमें न तो इस वर्तमान जीवन का कोई लाभ मिल पायेगा, न ही हम अन्यों को लाभ दे पायेंगे। जो व्यक्ति विशाल खजाना पा जाने पर उसका उपयोग न तो अपने लिए करता है, न अन्यों के सुख के लिए समर्पित करता है, वह कृपण या कंजूस कहलाता है। इसलिए ऐसा व्यक्ति जो यह समझे बिना कि वह ईश्वर का दास है इस संसार से चला जाता है, कृपण या कंजूस कहलाता है।

यह श्लोक बतलाता है कि नारद मुनि कृष्ण-भक्ति में इतने शक्तिसम्पन्न हैं कि वे कंजूस मूढ़ों या धूर्तों तक को उनके मोह से उबार सकते हैं, जिस तरह कोई दयालु पिता अपने बच्चे को जगाकर दुखदायी डरावने सपने से बचा लेता है। हमारा वर्तमान भौतिकतावादी जीवन एक दुखद स्वप्न के तुल्य है, जिससे नारद जैसे महात्मा ही हमें जगा सकते हैं। नारद मुनि इतने शक्तिशाली हैं कि पहले से कृष्ण-भक्ति में अग्रसर लोग भी उनके उपदेशों को जो *श्रीमद्भागवतम्* के ग्यारहवें स्कंध में यहाँ दिये जाएँगे, सुनकर अपनी आध्यात्मिक स्थिति को आगे बढ़ा सकते हैं। इसीलिए श्री नारद समस्त जीवों के

गुरु तथा पिता हैं। ये सारे जीव मूलत: भगवद्भक्त हैं, किन्तु सम्प्रति मनुष्यों, पशुओं इत्यादि के भौतिक शरीरों में भौतिक जगत का कृत्रिम रूप से भोग करने का प्रयास कर रहे हैं।

भूतानां देवचरितं दुःखाय च सुखाय च ।
सुखायैव हि साधूनां त्वादृशामच्युतात्मनाम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

भूतानाम्—जीवों के; देव-चरितम्—देवताओं के कार्यकलाप; दुःखाय—दुख के लिए; च—भी; सुखाय—सुख में; च—तथा; सुखाय—सुख में; एव—केवल; हि—निस्सन्देह; साधूनाम्—सन्तों के; त्वादृशाम्—तुम्हारे समान; अच्युत—अच्युत भगवान्; आत्मनाम्—जिन्हें अपनी आत्मा के ही समान स्वीकार कर रखा है।.

देवताओं के कार्यकलापों से जीवों को दुख तथा सुख दोनों प्राप्त होते हैं, किन्तु अच्युत भगवान् को अपनी आत्मा मानने वाले, आप जैसे महान् सन्तों के कार्यों से समस्त प्राणियों को केवल सुख ही प्राप्त होता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि नारद मुनि जैसे शुद्ध भगवद्भक्तों को सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पर शासन करने के लिए परमेश्वर द्वारा शक्तिप्रदत्त जीवों अर्थात् देवताओं से भी बढ़कर मानना चाहिए। *भगवद्गीता* (३.१२) में कहा गया है :

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविता: ।

तैर्दत्तान् अप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव स: ॥

"जीवन की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले विभिन्न देवता यज्ञ सम्पन्न होने पर प्रसन्न होकर तुम्हारी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति करेंगे। किन्तु जो इन उपहारों को बदले में देवताओं को अर्पित किये बिना भोगता है, वह निश्चित रूप से चोर है।" इस सन्दर्भ में श्रील प्रभुपाद ने देवताओं के विषय में यह टिप्पणी की है, "देवतागण सांसारिक कार्यों के लिए अधिकार-प्राप्त प्रशासक हैं। प्रत्येक जीव के शरीर तथा आत्मा का पालन करने के लिए आवश्यक वायु, प्रकाश, जल तथा अन्य सारे वरदान देवताओं के अधिकार में हैं, जो भगवान् के शरीर के विभिन्न भागों में असंख्य सहायकों के रूप में स्थित हैं। उनकी प्रसन्नता तथा अप्रसन्नता मनुष्यों द्वारा सम्पन्न किये गये यज्ञों पर निर्भर करती है। दूसरे शब्दों में, भगवान् की व्यवस्था के अनुसार, भौतिक सम्पन्नता देवताओं की प्रसन्नता पर निर्भर करती है। यदि देवतागण यज्ञ न करने से या उन्हें अनुचित ढंग से करने के कारण असन्तुष्ट रहते हैं, तो उन्हें मनुष्यों को विविध प्रकार के कष्ट प्रदान करने का अधिकार प्राप्त रहता है। सामान्यतया यह कष्ट

भौतिक आवश्यकताओं की अत्यधिक या अपर्याप्त आपूर्ति के रूप में होता है। उदाहरणार्थ, जीवन के लिए सूर्य की धूप आवश्यक है, किन्तु यदि सूर्य की उष्मा अत्यधिक या कम रहे तो हमें कष्ट होता है। अत्यधिक या अपर्याप्त वर्षा भी कष्ट का कारण बन जाती है। इस तरह यज्ञ की सम्पन्नता के अनुसार ही देवतागण मनुष्यों को सुख या दुख प्रदान करते हैं।

किन्तु जैसाकि यहाँ पर कहा गया है, नारद मुनि जैसे महान् सन्त-पुरुष (साधु) सदैव समस्त जीवों पर दयालु रहते हैं—

तितिक्षव: कारुणिका: सुहृद: सर्वदेहिनाम्।

अजातशत्रव: शान्त: साधव: साधुभूषणा: ॥

''साधु के लक्षण हैं कि वह सहिष्णु, दयालु तथा समस्त जीवों का मित्र होता है, उसका कोई शत्रु नहीं होता, वह प्रशान्त होता है, वह शास्त्रों का पालन करता है और उसके सारे लक्षण उदात्त होते हैं।'' (भागवत ३.२५.२१) श्रील प्रभुपाद ने इस श्लोक की टीका करते हुए *साधु* का चित्रण इस प्रकार किया है, ''*साधु* का जिस तरह ऊपर वर्णन हुआ है, वह भगवान् का भक्त होता है। अत: उसका मुख्य कार्य लोगों में भगवान् की भक्ति जगाना है। यह उसकी दया है। वह जानता है कि भगवान् की भक्ति के बिना मनुष्य-जीवन चौपट हो जाता है। भक्त संसार-भर में भ्रमण करके द्वार-द्वार जाकर उपदेश देता है कि ''कृष्ण-भक्त बनो, अपनी पाशविक प्रवृत्तियों को ही पूरा करने में अपना जीवन नष्ट न करो। यह मानव-जीवन आत्म-साक्षात्कार या कृष्ण-भक्ति के लिए है।'' ये ही *साधु* के उपदेश हैं। वह अपने मोक्ष से सन्तुष्ट नहीं होता। वह सदैव अन्यों के विषय में सोचता रहता है। वह समस्त पतितात्माओं के प्रति अत्यन्त दयालु होता है। अत: उसका एक गुण है *कारुणिका* अर्थात् पतितात्माओं के प्रति करुणा या दया। उपदेश कार्य करते हुए उसे अनेक विरोधी तत्त्वों का सामना करना पड़ता है, अत: साधु या भगवद्भक्त को अत्यन्त सहिष्णु होना पड़ता है। कोई भी व्यक्ति उसके साथ दुर्व्यवहार कर सकता है, क्योंकि बद्धजीव भक्ति के दिव्य ज्ञान को प्राप्त करने के लिए सन्नद्ध नहीं होते। उन्हें यह पसन्द नहीं आता। यही उनका रोग है। साधु को भक्ति की महत्ता समझाने का अप्रशंसित कार्य करना होता है। कभी कभी भक्तों के ऊपर हिंसात्मक प्रहार भी होते हैं, जैसे कि जीसस क्राइस्ट को क्रूस पर चढ़ा दिया गया। हरिदास ठाकुर को बाइस बाजारों में बेंत से पीटा गया और श्री चैतत्य महाप्रभु के प्रमुख सहायक

नित्यानन्द पर जगाई-मधाई ने विकट प्रहार किया। तो भी वे सब सहिष्णु बने रहे, क्योंकि उन्हें पतितों का उद्धार जो करना था। साधु का एक गुण यह है कि वह अत्याधिक सहिष्णु तथा पतितों के प्रति दयालु होता है। वह दयालु इसलिए होता है, क्योंकि वह समस्त जीवों का शुभचिन्तक है। वह न केवल मानव समाज का शुभचिन्तक होता है, अपितु पशु समाज का भी। यहाँ पर *सर्व-देहिनाम्* कहा गया है, जो उन समस्त जीवों का सूचक है, जिन्हें भौतिक शरीर मिले हुए हैं। न केवल मनुष्यों को भौतिक शरीर प्राप्त है, अपितु अन्य जीवों को भी, यथा कुत्तों, बिल्लियों को भी भौतिक शरीर प्राप्त हैं। भगवद्भक्त प्रत्येक जीव के प्रति दयालु होता है, चाहे वह कुत्ता हो या बिल्ली, वृक्ष हो या अन्य कुछ। वह समस्त जीवों के साथ ऐसा व्यवहार करते हैं, जिससे अन्ततः वे इस भवबन्धन से मोक्ष पा सकें। भगवान् चैतन्य के एक शिष्य शिवानन्द सेन ने एक कुत्ते के साथ आध्यात्मिकता का व्यवहार करके उसे मोक्ष दिलाया। ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जिनमें साधु की संगति से कुत्ते को मोक्ष प्राप्त हो सका, क्योंकि साधु समस्त जीवों के हितार्थ परोपकार में लगा रहता है। किसी से शत्रुता न रखने पर भी यह संसार इतना कृतघ्न है कि साधु के भी अनेक शत्रु बन जाते हैं।

एक शत्रु तथा मित्र में क्या अन्तर है ? यह आचरण का अन्तर है। साधु सारे बद्धजीवों को भव-बन्धन से छुटकारा दिलाने के लिए ही सबों के साथ आचरण करता है, अतः वह बद्धजीवों को मोक्ष दिलाने वाला सबसे बड़ा मित्र है। साधु शान्त होता है और शान्तिपूर्वक शास्त्रीय नियमों का पालन करता है और साथ ही साथ भगवद्भक्त होता है। जो वास्तव में शास्त्रीय नियमों का पालन करता है, उसे भगवद्भक्त होना चाहिए, क्योंकि सारे शास्त्रों का यही आदेश है कि भगवान् के आदेशों का पालन किया जाय। अतः *साधु* का अर्थ है शास्त्रों के आदेशों का पालन करने वाला तथा भगवान् का भक्त। भक्त में ये सारे गुण पाये जाते हैं। भक्त में देवताओं के सारे गुण विकसित होते हैं, किन्तु अभक्त में चाहे वह विद्या की दृष्टि से कितना ही योग्य क्यों न हो, दिव्य साक्षात्कार के मापदण्ड के अनुसार वास्तविक सद्गुणों या लक्षणों का अभाव रहता है।''

इसीलिए वसुदेव ने नारद मुनि के लिए *साधु* शब्द का प्रयोग किया है, जो यह बताता है कि भगवद्भक्त का पद देवताओं के पद से भी बढ़कर है।

भजन्ति ये यथा देवान्देवा अपि तथैव तान् ।
छायेव कर्मसचिवाः साधवो दीनवत्सलाः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

भजन्ति—पूजते हैं; ये—जो; यथा—जिस तरह; देवान्—देवताओं को; देवाः—देवतागण; अपि—भी; तथा एव—उसी तरह से; तान्—उनको; छाया—छाया में; इव—मानो; कर्म—भौतिक कर्म तथा उसके फल का; सचिवाः—अनुचर; साधवः—साधुगण; दीन-वत्सलाः—पतितों पर दयालु।

जो देवताओं की पूजा करते हैं, वे भेंट (उपहार) के अनुसार देवताओं से वैसा ही फल पाते हैं। देवतागण कर्म के उसी तरह अनुचर हैं, जिस तरह मनुष्य की छाया मनुष्य की अनुचर है, किन्तु साधुगण सचमुच ही पतितों पर दयालु होते हैं।

तात्पर्य : यहाँ *छायेव कर्मसचिवाः* पद महत्त्वपूर्ण है। शरीर की छाया शरीर की गतियों का अनुसरण करती है। छाया में वह शक्ति नहीं होती कि शरीर की गति से भिन्न प्रकार की गति कर सके। इसी प्रकार यह कथन है—*भजन्ति ये यथा देवान् देवा अपि तथैव तान्*—देवतागण जीवों को जो फल देते हैं, वह जीवों के कर्मों के अनुसार होते हैं। देवतागण भगवान् द्वारा शक्तिप्रदत्त होते हैं कि जीव को सुख तथा दुख प्रदान करने में वे जीव के कर्म का पूरी तरह से अनुसरण करें। जिस प्रकार छाया स्वतंत्र होकर गति नहीं कर सकती, उसी तरह देवता भी स्वतंत्र रूप से किसी जीव को दण्ड या पुरस्कार नहीं दे सकते। यद्यपि देवतागण पृथ्वी के मनुष्यों की तुलना में लाखों गुना शक्तिशाली होते हैं, किन्तु अन्ततः वे ईश्वर के क्षुद्र दास की तरह होते हैं, जिन्हें ब्रह्माण्ड के नियन्ताओं की तरह कार्य करने की ईश्वर अनुमति देते हैं। *श्रीमद्भागवत* के चौथे स्कन्ध में भगवान् के शक्त्यावतार पृथु महाराज कहते हैं कि यदि देवतागण भगवान् के नियमों से विपथ होते हैं, तो वे भी ईश्वर द्वारा दण्ड के भागी बनते हैं। दूसरी ओर, नारद मुनि जैसे भगवद्भक्त अपने शक्तिशाली प्रचार-कार्य द्वारा जीव को अपना सकाम कर्म तथा मानसिक चिन्तन छोड़ने के लिए तथा भगवान् की शरण में जाने के लिए फुसलाकर जीव के *कर्म* में बाधा डाल सकते हैं। इस संसार में मनुष्य अज्ञान के पाश के अन्तर्गत कठिन श्रम करता है। किन्तु यदि वह शुद्ध भगवद्भक्त की संगति से जागृत हो जाता है, तो वह ईश्वर के नित्य दास के रूप में अपनी वास्तविक स्थिति को समझ सकता है। ऐसी सेवा करके वह भवबन्धन को तथा अपने पूर्वकर्मों के फल को नष्ट कर देता है और शरणागत के रूप में उसे भगवान् की सेवा में असीम आध्यात्मिक स्वतंत्रता प्राप्त हो जाती है। इस सम्बन्ध में *ब्रह्म-संहिता* का (५.५४) कहना है—

यस्त्विन्द्रगोपमथवेन्द्रमहो स्वकर्म-

बन्धानुरूपफलभाजनमातनोति ।

कर्माणि निर्दहति किन्तु च भक्तिभाजां

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

''मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ, जो भक्तों के समस्त सकाम कार्यों की जड़ को जला डालते हैं। जो कर्म के पथ पर चलते हैं, वे उन्हें उनके द्वारा पूर्वजन्म में किये गये कर्मों के अनुसार निष्पक्ष भाव से कर्म का फल भोगने देते हैं, चाहे वह देवताओं का राजा इन्द्र हो या इन्द्रगोप नामक क्षुद्र कीट।'' देवतागण तक कर्म के नियमों से बँधे रहते हैं, किन्तु भगवान् का शुद्ध भक्त भौतिक भोग की इच्छा का पूरी तरह परित्याग करके कर्म के सभी चिह्नों को सफलतापूर्वक जलाकर क्षार कर डालता है।

इस सन्दर्भ में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने टीका की है कि जब तक मनुष्य भगवान् की भक्ति में शरणागत जीव की तरह संलग्न नहीं होता, तब तक उसे *निष्काम*—समस्त निजी इच्छाओं से मुक्त नहीं माना जा सकता। कभी कभी भौतिकतावादी व्यक्ति दान या परोपकार में लग कर अपने को निष्काम कर्ता मानता है। इसी प्रकार भगवान् के निर्विशेष ब्रह्म पक्ष में तदाकार होने के चरम लक्ष्य से मानसिक चिन्तन करने वाले भी अपने को निष्काम या कामनारहित विज्ञापित करते हैं। किन्तु श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती के अनुसार ऐसे *कर्मी* तथा *ज्ञानी* अपने तथाकथित ''निष्काम भाव'' में लगे रहने पर भी वास्तव में कामवासनाओं के दास होते हैं। दूसरे शब्दों में, वे ईश्वर के नित्य दास के रूप में अपनी स्थिति को सम्यक रीति से नहीं समझ पाते। परोपकारी कर्मी मिथ्या ही अपने को मानवता का सर्वश्रेष्ठ मित्र मानता है, यद्यपि वह अन्यों को वास्तविक लाभ दिला पाने में असमर्थ होता है, क्योंकि वह संसार के क्षणिक उन्माद के परे आनन्द तथा ज्ञान के नित्य जीवन से अनजान रहता है। इसी तरह यद्यपि ज्ञानी अपने को गर्व से ईश्वर घोषित करता है और अन्यों को भी ईश्वर बनने का न्यौता देता है, किन्तु वह यह बताने से कतराता रहता है कि ये तथाकथित ईश्वर किस तरह प्रकृति के नियमों से बँधे होते हैं। वास्तव में ईश्वर बनने का प्रयास ईश-प्रेम पर आधारित न होकर ईश्वर जैसा ही पद ग्रहण करने की इच्छा पर आधारित होता है। दूसरे शब्दों में, सभी तरह से ब्रह्म तुल्य बनने की इच्छा दूसरी तरह की एक भौतिकतावादी इच्छा है। इसीलिए कर्मी तथा ज्ञानीजन अपनी स्वयं की इच्छाओं को पूरा करने

के कुत्रिम प्रयत्नों में अपनी असंतुष्टि के कारण पतितात्माओं पर वास्तविक दया नहीं दिखला सकते, क्योंकि वे अपनी इच्छाओं को पूरा करने के कृत्रिम प्रयासों में लगे रहते हैं तथा तुष्ट नहीं हो पाते। इस सन्दर्भ में श्री मध्वाचार्य ने *उद्दाम संहिता* से यह उद्धरण दिया है—

सुखम् इच्छन्ति भूतानां प्रायो दुःखासहा नृणाम्।

तथापि तेभ्यः प्रवरा देवा एव हरेः प्रियाः॥

''ऋषिगण समस्त प्राणियों के लिए सुख की कामना करते हैं और मनुष्यों के दुख को सहने में लगभग सदा असमर्थ होते हैं। तो भी देवतागण श्रेष्ठ हैं, क्योंकि वे भगवान् हरि को अत्यन्त प्रिय हैं।'' यद्यपि श्रील मध्वाचार्य ने देवताओं को दयालु ऋषियों की अपेक्षा उच्च स्थान प्रदान किया है, किन्तु श्रील जीव गोस्वामी ने कहा है *साधुवस्तु न कर्मानुगताः* साधुगण देवताओं से श्रेष्ठ होते हैं, क्योंकि वे बद्धजीवों के पुण्य या पापमय कार्यों का विचार किये बिना दयालु होते हैं। मध्वाचार्य तथा श्रील जीव गोस्वामी के इस ऊपरी मतभेद का निपटारा भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने किया है। वे यह इंगित करते हैं कि श्रील मध्वाचार्य के कथन में *ऋषि* शब्द कर्मियों तथा ज्ञानियों में से तथाकथित साधुओं का सूचक है। सामान्य कर्मी तथा ज्ञानीजन अपने को नैतिकता तथा परोपकार के शिखर पर मानते हैं। किन्तु भगवान् के चरम पद से अनजान होने के कारण वे देवताओं के तुल्य नहीं माने जा सकते, क्योंकि देवतागण भगवद्भक्त होते हैं और इस तथ्य से अवगत होते हैं कि सारे जीव भगवान् के नित्य दास हैं। किन्तु ऐसे देवता भी नारद जैसे शुद्ध भक्तों के तुलनीय नहीं हैं। ऐसे शुद्ध भक्तों को पुण्यात्मा तथा पापी जीवों को जीवन की चरम सिद्धि प्रदान करने का अधिकार प्राप्त रहता है—जीवों को ऐसे शुद्ध भक्तों के आदेशों का केवल पालन करना होता है।

ब्रह्मंस्तथापि पृच्छामो धर्मान्भागवतांस्तव ।
यान्श्रुत्वा श्रद्धया मर्त्यो मुच्यते सर्वतो भयात् ॥७॥

शब्दार्थ

ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; **तथा अपि**—इतने पर भी (यद्यपि आपके दर्शनों से ही मैं पूर्ण सन्तुष्ट हूँ); **पृच्छामः**—मैं पूछ रहा हूँ; **धर्मान्**—धार्मिक कर्तव्यों को; **भागवतान्**—जो विशेष रुप से भगवान् को प्रसन्न करने के निमित्त हैं; **तव**—तुमसे; **यान्**—जिन्हें; **श्रुत्वा**—सुनकर; **श्रद्धया**—श्रद्धापूर्वक; **मर्त्यः**—जिसका मरण निश्चित है; **मुच्यते**—छूट जाता है; **सर्वतः**—समस्त; **भयात्**—भय से।

हे ब्राह्मण, यद्यपि मैं आपके दर्शन मात्र से सन्तुष्ट हूँ, तो भी आपसे मैं उन कर्तव्यों के विषय में पूछना चाहता हूँ, जो भगवान् को आनन्द प्रदान करने वाले हैं। जो भी मर्त्य प्राणी इनके विषय में श्रद्धापूर्वक श्रवण करता है, वह समस्त प्रकार के भय से मुक्त हो जाता है।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार नारद मुनि वसुदेव को उपदेश देने में हिचकिचा रहे होंगे, क्योंकि कृष्ण के पिता होने से वे वसुदेव के उच्च पद का सहज आदर कर रहे थे। नारद ने सोचा होगा कि वसुदेव पहले से कृष्णभावनामृत में दक्ष हैं, अतएव उन्हें भक्ति की विधि का उपदेश देने की आवश्यकता नहीं है। इसीलिए, नारद की सम्भावित हिचक को भाँपकर ही, वसुदेव ने नारद से कृष्ण-भक्ति के विषय में उपदेश देने का विशेष अनुरोध किया। यह शुद्ध भक्त का लक्षण है। कृष्ण का शुद्ध भक्त कभी भी अपने को उच्च नहीं मानता, अपितु वह विनीत भाव से अनुभव करता है कि उसकी भक्ति अत्यन्त अपूर्ण है। किन्तु किसी तरह भगवान् कृष्ण अपनी अहैतुकी कृपावश, ऐसी अपूर्ण सेवा को स्वीकार कर रहे हैं। इस सम्बन्ध में श्री चैतन्य महाप्रभु ने *शिक्षाष्टक* (३) में कहा है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।

अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

"अपने को सड़क के तृण से भी तुच्छ मानते हुए, मनुष्य मन की विनीत अवस्था में भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन कर सकता है। उसे वृक्ष से भी अधिक सहनशील, मिथ्या प्रतिष्ठा के भाव से रहित होना चाहिए, और अन्यों को सभी प्रकार से सम्मान देने के लिए तैयार रहना चाहिए।" इस भौतिक जगत में बद्धजीव अपने तथाकथित वंश को लेकर मिथ्या गर्वित रहते हैं। यह गर्व मिथ्या है क्योंकि इस भौतिक जगत में जिसने भी जन्म लिया है, वह पतित अवस्था में होता है, भले ही वह कितनी ही अच्छी स्थिति में क्यों न हो। किन्तु वसुदेव, निश्चित ही पतित नहीं थे, क्योंकि उनका जन्म कृष्ण के परिवार में हुआ था। चूँकि वे कृष्ण के पिता थे, अतएव उनका पद अत्युच्च था, किन्तु शुद्ध भक्त होने के कारण वे कृष्ण के साथ विशिष्ट सम्बन्ध होने पर भी गर्वित नहीं थे। विपरीत इसके, अपने को आध्यात्मिक ज्ञान में न्यून मानकर, उन्होंने कृष्णभावनामृत के महान् उपदेशक नारद मुनि के आगमन का लाभ उठाने की दृष्टि से, तुरन्त ही उनसे भक्ति के विषय में जिज्ञासा प्रकट की। कृष्ण के

शुद्ध भक्त की यह अतुलनीय विनम्रता निर्विशेषवादी की उस मिथ्या विनम्रता से कहीं अधिक श्रेष्ठ है, जो ऊपर से विनीत साधु-व्यक्ति का आचरण करते हुए ईश्वर के समतुल्य बनने की इच्छा रखता है।

भयम् की उत्पत्ति कृष्ण से नहीं, अपितु किसी अन्य वस्तु को देखने से होती है (*द्वितीयाभिनिवेशत:*)। जैसाकि *वेदान्त सूत्र* में कहा गया है (*जन्माद्यस्य यत:*) तथा *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है (*अहं सर्वस्य प्रभव:, वसुदेव: सर्वमिति*—) प्रत्येक वस्तु वास्तव में भगवान् से ही उदभूत होती है। कृष्ण प्रत्येक जीव के शुभैषी मित्र हैं (*सुहृदं सर्वभूतानाम्*)। यदि जीव भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन करने का दिग्भ्रमित प्रयास छोड़ देता है और भगवान् की शरण ग्रहण कर लेता है, तो निस्सन्देह, उसे कृष्ण के साथ अपने नित्य सम्बन्ध का दृढ़ विश्वास हो जाता है। शरणागत व्यक्ति वास्तव में अनुभव करता है कि कृष्ण उसके शुभैषी मित्र हैं, और चूँकि वह मित्र सारे जगत का परम नियन्ता होता है, अतएव भय का कोई कारण नहीं रहता। धनी पुरुष का पुत्र अपने पिता की जागीर में दौरा करते समय आश्वस्त रहता है। इसी तरह अधिकारप्रदत्त सरकारी प्रतिनिधि अपने कर्तव्य को सम्पन्न करने में आश्वस्त रहता है। इसी प्रकार, कृष्ण का भक्त भी, भगवान् के प्रतिनिधि के रूप में आश्वस्त रहता है, क्योंकि वह हर क्षण समझता रहता है कि समग्र भौतिक तथा आध्यात्मिक सृष्टि उसके उदार स्वामी के नियंत्रण में है। किन्तु अभक्त व्यक्ति, कृष्ण के पद को नहीं मानता और वह उसे कृष्ण से भिन्न रूप में कल्पना करता है। उदाहरणार्थ, यदि सरकारी सेवक सोचता है कि कोई ऐसी खतरनाक अड़चन आन पड़ी है, जिसे सरकारी शक्ति से वश में नहीं किया जा सकता, तो वह भयभीत हो उठता है। यदि कोई बच्चा यह सोचता है कि ऐसी भी कोई शक्ति है, जिसे उसका पिता नहीं दबा सकता, तो वह भयभीत हो जाता है। इसी तरह से, क्योंकि हम कृत्रिम रूप से यह सोचते हैं कि इस जगत में कुछ बातें ऐसी हैं, जो शुभेच्छु भगवान् के पूर्ण नियंत्रण में नहीं हैं, हम भयभीत हो उठते हैं। द्वितीय वस्तु की (कृष्ण के अतिरिक्त) ऐसी धारणा *द्वितीयाभिनिवेश* कहलाती है, जो तुरन्त ही *भयम्* का वातावरण उत्पन्न कर देती है। कृष्ण *अभयंकर* कहलाते हैं, जिसका अर्थ है कि वे अपने भक्त के हृदय के सारे भय को विनष्ट कर देते हैं।

कभी कभी अनेक वर्षों तक निर्विशेषवादी चिन्तन तथा भौतिकतावादी, जीवन के भोग के पश्चात् किंकर्तव्यविमूढ़ हुए तथाकथित विद्वान भयभीत तथा चिन्तातुर हो उठते हैं। श्रील भक्तिसिद्धान्त

सरस्वती ऐसे विचलित दार्शनिकों की तुलना *छान्दोग्य उपनिषद्* में वर्णित बद्ध गिद्ध से करते हैं। ऐसे चिन्तक भय से मुक्ति की कामना करते हुए दुर्भाग्य से काल्पनिक मोक्ष (*विमुक्तमानिन:*) को गढ़ लेते हैं और निर्विशेष या शून्य की शरण लेने का प्रयास करते हैं। किन्तु *भागवत* (१०.२.३२) में कहा गया है *आरुह्य कृच्छ्रेण परंपदं तत:। पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रय:* क्योंकि ऐसे चिन्तक भगवान् से अपने नित्य सम्बन्ध को नकारने की अपनी मूल त्रुटि को ठीक नहीं कर पाये हैं, अत: वे अपनी मनगढंत मुक्ति से नीचे गिरकर भयभीत अवस्था में रहते जाते हैं। किन्तु, वसुदेव कृष्ण की भक्ति के विषय में अधिकाधिक सुनने के लिए खुले तौर पर उत्सुक हैं, इसीलिए कहते हैं *यान् श्रुत्वा श्रद्धया मर्त्यो मुच्यते सर्वतो भयात्*—कृष्ण की शुद्ध भक्ति के विषय में केवल श्रवण करने से बद्धजीव सभी प्रकार के भय से मुक्त हो सकता है और यह दिव्य स्वतंत्रता निश्चय ही नित्य है।

अहं किल पुरानन्तं प्रजार्थो भुवि मुक्तिदम् ।
अपूजयं न मोक्षाय मोहितो देवमायया ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; किल—निस्सन्देह; पुर—बहुत काल पूर्व; अनन्तम्—भगवान्, जो अनन्त हैं; प्रजा-अर्थ:—सन्तान की कामना करते हुए; भुवि—पृथ्वी पर; मुक्ति-दम्—मुक्ति देने वाले, भगवान्; अपूजयम्—मैंने पूजा की; न मोक्षाय—मुक्ति के लिए नहीं; मोहित:—मोहग्रस्त; देव-मायया—भगवान् की माया द्वारा।

इस पृथ्वी पर मैंने अपने पूर्वजन्म में मुक्तिप्रदाता भगवान् अनन्त की पूजा तो की, किन्तु मैं सन्तान का इच्छुक था, अतएव मैंने उनकी पूजा मुक्ति के लिए नहीं की थी। इस तरह मैं भगवान् की माया से मोहग्रस्त था।

तात्पर्य : श्रीधर स्वामी के अनुसार *किल* (जिसका अर्थ "निस्सन्देह यह सत्य है," "यह कहा जाता है" या कि "जैसा विदित है" होता है) शब्द सूचित करता है कि वसुदेव उन शब्दों को स्मरण कर रहे थे, जिन्हें भगवान् ने उनसे अपने विष्णु के चतुर्भुजी रूप में कंस के बन्दीगृह में प्रकट होकर कहा था। श्रील जीव गोस्वामी कहते हैं कि वसुदेव की चिन्ता से, जो कि इस श्लोक में *अपूजयं न मोक्षाय मोहितो देवमायया* शब्दों से व्यक्त होती है, यह पता चलता है कि यदुवंश को पिण्डारक में ब्राह्मणों ने जो शाप दिया था, उसे वसुदेव ने सुन रखा था और इससे वे समझ सकते थे कि भगवान् का इस संसार से तिरोधान आसन्न है। वसुदेव समझ गये कि इस ब्रह्माण्ड में भगवान् की व्यक्त लीलाओं

की इति होने वाली है, इसलिए अब वे पश्चात्ताप कर रहे थे कि उन्होंने कृष्ण की पूजा करने के सुअवसर का लाभ सीधे भगवद्धाम वापस जाने के लिए क्यों नहीं उठाया।

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वसुदेव ने भगवान् के लिए *मुक्तिदम्* शब्द का प्रयोग किया है। *मुक्तिदम्* तथा मुकुन्द पर्यायवाची हैं, जिनके अर्थ हैं जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्ति दिलाने वाला। वैदिक वाङ्मय में कहा गया है कि देवता तक जन्म-मृत्यु के चक्र से बँधे हैं, यद्यपि पार्थिव गणना से उनकी आयु कल्पनातीत दीर्घ है। सर्वशक्तिमान ईश्वर ही बद्धजीव को उसके पूर्व पापों के फल से मुक्त कर सकते हैं और वे ही आनन्द तथा ज्ञान से युक्त नित्य जीवन प्रदान करने वाले हैं।

वसुदेव को पश्चाताप हो रहा था कि उन्होंने भगवान् कृष्ण से भगवद्धाम जाकर वैकुण्ठ में उनकी सेवा करने की चाह के बजाय कृष्ण को अपने पुत्र रुप में पाने की इच्छा व्यक्त की थी। *श्रीमद्‌भागवतम्* के दसवें स्कन्ध की इस घटना पर टीका करते हुए श्रील प्रभुपाद ने बलपूर्वक कहा है कि हमें भगवान् को पुत्र रूप में इस पृथ्वी पर लाने का प्रयास न करके भगवद्धाम वापस जाने की इच्छा करनी चाहिए। न ही हम वसुदेव तथा देवकी के समान हजारों दिव्य वर्षों तक कठिन तपस्या का कृत्रिम रूप से अनुकरण कर सकते हैं, जिसे उन्होंने सुतपा तथा पृश्नि के रूप में अपने पूर्वजन्म में किया था। इसी सन्दर्भ में श्रील प्रभुपाद कहते हैं, ''यदि हम भगवान् को इसी भौतिक जगत में अपने बीच देखना चाहते हैं, तो इसके लिए महान् तपस्या की आवश्यकता होगी। किन्तु यदि हम कृष्ण के पास लौट जाना चाहते हैं (*त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन*), तो हमें उन्हें केवल जानने और उनसे प्रेम करने की आवश्यकता होगी। केवल प्रेम द्वारा ही हम भगवद्धाम वापस जा सकते हैं।'' श्रील प्रभुपाद आगे बतलाते हैं कि चैतन्य महाप्रभु मुक्त-भाव से कृष्ण-प्रेम का वर देते हैं, जिससे मनुष्य हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करके कृष्ण के धाम वापस जा सकता है। इस युग में यह कीर्तन-विधि कठिन तपस्या करने के कृत्रिम प्रयासों से कहीं अधिक प्रभावशाली है। श्रील प्रभुपाद अन्त में लिखते हैं, ''अतएव, किसी को हजारों वर्षों तक कठिन तपस्या करने की आवश्यकता नहीं है। उसे केवल इतना ही सीखना होगा कि कृष्ण से कैसे प्रेम किया जाय और उनकी सेवा में कैसे सदैव व्यस्त रहा जाय (*सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः*)। तब मनुष्य आसानी से भगवद्धाम वापस जा सकता है। भगवान् को किसी भौतिक प्रयोजन के लिए यथा पुत्र प्राप्ति आदि के लिए यहाँ लाने की अपेक्षा, यदि

हम भगवद्धाम वापस जाय, तो भगवान् से हमारा असली सम्बन्ध प्रकट होगा और हम शाश्वत रूप से अपने नित्य सम्बन्ध में लगे रहेंगे। हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन करने से हम धीरे धीरे परम पुरुष के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को विकसित करते हैं और *स्वरूपसिद्धि* प्राप्त कर सकते हैं। हमें इस वर का लाभ उठाकर भगवद्धाम वापस जाना चाहिए।'' (भागवत १०.३.३८ तात्पर्य)

यद्यपि वसुदेव तथा देवकी ने चाहा था कि कृष्ण उनके पुत्र बनें, किन्तु यह समझना होगा कि ऐसे भी भक्त हैं, जो कृष्ण से शाश्वत प्रेम करते हैं। जैसाकि भगवान् ने स्वयं कहा है (भागवत १०.३.३९) *मोहितौ देवमायया*—भगवान् के शुद्ध भक्त वसुदेव तथा देवकी उनकी अन्तरंगा शक्ति से प्रच्छन्न थे। *श्रीमद्भागवतम्* के चौथे स्कन्ध (४.१.२०) में अत्रि मुनि ने भगवान् से प्रार्थना की *प्रजां आत्मसमां मह्यं प्रयच्छतु*—कृपया मुझे अपने ही समान पुत्र प्रदान करने के लिए प्रसन्न हों। अत्रि मुनि ने कहा कि उन्हें भगवान् के *समान* ही पुत्र चाहिए, अतएव वे शुद्ध भक्त नहीं थे, क्योंकि वे भौतिक इच्छा की पूर्ति चाहते थे। यदि उन्होंने भगवान् को ही अपने पुत्र रूप में चाहा होता, तो वे भौतिक इच्छाओं से पूर्णतया मुक्त रहते, क्योंकि उन्होंने तब परम सत्य को पाने की इच्छा की होती, किन्तु उन्होंने उन जैसा पुत्र चाहा, इसलिए उनकी इच्छा भौतिक थी। फलतः अत्रि मुनि की गणना शुद्ध भक्तों में नहीं की जा सकती। किन्तु वसुदेव तथा देवकी ने भगवान् को ही चाहा था, अतएव वे भगवान् के शुद्ध भक्त थे। इसलिए इस श्लोक में वसुदेव के कथन *अपूजयं न मोक्षाय मोहितो देवमायया* का यह अर्थ ग्रहण करना चाहिए कि कृष्ण की अन्तरंगा शक्ति ने वसुदेव को मोह लिया, जिससे उन्होंने कृष्ण को अपने पुत्र रूप में चाहा। इससे भगवान् को अपने प्रिय भक्तों के पुत्र रूप में प्रकट होने का मार्ग प्रशस्त हो सका।

यथा विचित्रव्यसनाद्भवद्भिर्विश्वतोभयात् ।
मुच्येम ह्यञ्जसैवाद्धा तथा नः शाधि सुव्रत ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिससे; विचित्र-व्यसनात्—विभिन्न खतरों से पूर्ण; भवद्भिः—आपके ही कारण से; विश्वतः-भयात्—(इस जगत से) जो प्रत्येक ओर से भयावह है; मुच्येम—मुक्त हो सकूँ; हि—निस्सन्देह; अञ्जसा—आसानी से; एव—भी; अद्धा—प्रत्यक्षतः; तथा—इस तरह; नः—हमको; शाधि—कृपया आदेश दें; सु-व्रत—हे अपने व्रत के सच्चे।

हे प्रभु, आप सदैव अपने व्रत पर खरे उतरते हैं। कृपया मुझे स्पष्ट आदेश दें, जिससे आपकी दया से मैं अपने को इस संसार से आसानी से मुक्त कर सकूँ, जो अनेक संकटों से पूर्ण है और हमें सदैव भय से बाँधे रहता है।

तात्पर्य : यहाँ पर *मुच्येम* शब्द सार्थक है। पिछले श्लोक में वसुदेव ने कहा है कि चूँकि वे भगवान् की माया से मोहग्रस्त थे, अतएव भगवान् से मुक्ति का वर नहीं प्राप्त कर सके। इसलिए अब वे भगवान् के शुद्ध भक्त से कह रहे हैं और आश्वस्त हैं कि भगवद्भक्त की कृपा से उन्हें भवबन्धन से निश्चित रूप से मोक्ष प्राप्त हो सकेगा।

इस सन्दर्भ में *अञ्जसा* (सरलतापूर्वक) तथा *अद्धा* (प्रत्यक्षत:) शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। यद्यपि मूर्ख लोग भगवान् के शुद्ध भक्त को गुरु रूप में स्वीकार किये बिना, भगवान् के समक्ष बड़े गर्व से कूद-फाँदकर पहुँच जाना चाहते हैं, किन्तु जो आत्मज्ञान के अनुभवी हैं, वे जानते हैं कि शुद्ध भक्त के चरणकमलों में आत्मसमर्पण करके तथा सेवा करके भगवान् से सीधा सम्पर्क प्राप्त किया जा सकता है। *श्रीमद्भागवत* (११.१७.२७) में भगवान् कृष्ण ने कहा है *आचार्यं मां विजानीयान् नावमन्येत कर्हिचित्।* इस तरह मनुष्य को यह समझना होगा कि कृष्ण का शुद्ध भक्त भगवान् जैसे ही आध्यात्मिक स्तर को प्राप्त होता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि शुद्ध भक्त भी ईश्वर होता है, बल्कि भगवान् के साथ घनिष्ठ प्रेममय सम्बन्ध के कारण वह भगवान् को आत्मवत् स्वीकार्य होता है। दूसरे शब्दों में, कृष्ण सदैव अपने शुद्ध भक्त के हृदय में रहते हैं और शुद्ध भक्त सदैव कृष्ण के हृदय में वास करते हैं। यद्यपि श्रीकृष्ण शाश्वत भगवान् हैं और अद्वितीय हैं, किन्तु वे अपने शुद्ध भक्त को पूजित होते देखकर अधिक प्रसन्न होते हैं। इसीलिए वे कहते हैं *आचार्यं मां विजानीयात्।* मनुष्य को चाहिए कि वैष्णव-आचार्य को वही सम्मान प्रदान करे, जो वह भगवान् को प्रदान करता है। इसलिए ज्योंही कोई व्यक्ति वैष्णव-गुरु को प्रसन्न कर लेता है, त्योंही वह कृष्ण को प्रसन्न कर लेता है और आध्यात्मिक प्रगति करने लगता है। *अञ्जसा* शब्द का अर्थ है कि यह प्रामाणिक विधि ही आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त करने की सरलतम विधि है। और चूँकि शुद्ध भक्त पारदर्शी माध्यम है, इसलिए *अद्धा* शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिससे यह सूचित होता है कि शुद्ध भक्तों के प्रति की गई सेवा प्रत्यक्ष रीति से कृष्ण के चरणकमलों

तक पहुँचती है, जबकि प्रामाणिक गुरु को छोड़कर मनमाने ढंग से की गई कृष्ण की सेवा स्वीकार नहीं होती और व्यर्थ जाती है।

जो सचमुच ही सर्वोच्च सिद्धि चाहते हैं, जो कि कृष्ण के नित्य आनन्दमय धाम वापस जाने में है, उन्हें चाहिए कि इन दो श्लोकों में श्री वसुदेव ने जो उदाहरण प्रस्तुत किया है, उसका ध्यान से अध्ययन करें। वे यह इंगित करते हैं कि यद्यपि भगवान् की प्रत्यक्ष पूजा करने से मोक्ष प्राप्त नहीं किया जा सकता, किन्तु नारद जैसे कृष्ण के शुद्ध भक्त तथा उच्च वैष्णव संत के एक क्षण के सान्निध्य से जीवन में सिद्धि प्राप्त की जा सकती है।

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार *विश्वतोभयात्* शब्द सूचित करता है कि वसुदेव ब्राह्मणों के शाप से अत्यन्त भयभीत थे। जिस तरह वैष्णवों की पूजा करके मनुष्य पूर्ण (सिद्ध) बन सकता है, उसी तरह उन्हें अप्रसन्न करने पर दुर्भाग्य भी प्राप्त कर सकता है। इसलिए पिण्डारक तीर्थ में ब्राह्मणों द्वारा दिये गये शाप से वसुदेव अत्यधिक भयभीत थे।

श्रीशुक उवाच

राजन्नेवं कृतप्रश्नो वसुदेवेन धीमता ।
प्रीतस्तमाह देवर्षिर्हरेः संस्मारितो गुणैः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; राजन्—हे राजा; एवम्—इस प्रकार; कृत-प्रश्नः—पूछे जाने के बाद; वसुदेवेन—वसुदेव द्वारा; धीमता—बुद्धिमान; प्रीतः—प्रसन्न; तम्—उनसे; आह—बोला; देव-ऋषिः—देवताओं में ऋषि; हरेः—भगवान् हरि के; संस्मारितः—स्मरण कराने वाले; गुणैः—गुणों के द्वारा।.

शुकदेव गोस्वामी ने कहा : हे राजन्, देवर्षि नारद अत्यन्त बुद्धिमान वसुदेव के प्रश्नों से अतीव प्रसन्न हुए। चूँकि वे प्रश्न भगवान् के दिव्य गुणों का स्मरण कराने वाले थे, अतएव उन्हें कृष्ण का स्मरण हो आया। अतः नारद ने वसुदेव को इस प्रकार उत्तर दिया।

श्रीनारद उवाच

सम्यगेतद्व्यवसितं भवता सात्वतर्षभ ।
यत्पृच्छसे भागवतान्धर्मांस्त्वं विश्वभावनान् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; सम्यक्—सही सही; एतत्—यह; व्यवसितम्—निश्चय, संकल्प; भवता—आपके द्वारा; सात्वत-ऋषभ—हे सात्वत वंश के सर्वश्रेष्ठ; यत्—चूँकि; पृच्छसे—पूछ रहे हो; भागवतान् धर्मान्—भगवान् के प्रति कर्तव्यों को; त्वम्—तुम; विश्व-भावनान्—समस्त विश्व को शुद्ध (पवित्र) कर सकने वाले।.

श्री नारद ने कहा : हे सात्वत-श्रेष्ठ, तुमने ठीक ही भगवान् के प्रति जीव के शाश्वत कर्तव्य के विषय में मुझसे पूछा है। भगवान् के प्रति ऐसी भक्ति इतनी शक्तिशाली होती है कि इसके करने से सारा विश्व पवित्र हो सकता है।

तात्पर्य : द्वितीय स्कन्ध के प्रथम श्लोक में ऐसी ही बात श्री शुकदेव गोस्वामी ने कही थी, जब उन्होंने परीक्षित महाराज को कृष्ण के विषय में जिज्ञासा करने के लिए बधाई दी थी।

वरीयान् एष ते प्रश्नः कृतो लोकहितं नृप।

आत्मवित्सम्मतः पुंसां श्रोतव्यादिषु यः परः॥

"हे राजन्! आपका प्रश्न इतना श्रेष्ठ है कि यह सभी प्रकार के लोगों के लिए लाभप्रद है। इस प्रश्न का उत्तर सुनने योग्य है और इसका अनुमोदन सारे अध्यात्मवादियों ने किया है।"

इसी प्रकार श्रील सूत गोस्वामी ने नैमिषारण्य के जिज्ञासु मुनियों को निम्नलिखित शब्दों में बधाई दी—

मुनयः साधु पृष्टोऽहं भवद्भिर्लोकमङ्गलम्।

यत्कृतः कृष्णसम्प्रश्नो येनात्मा सुप्रसीदति॥

"हे मुनियो! आप लोगों ने मुझसे बहुत अच्छा प्रश्न पूछा है। आपके प्रश्न श्रेष्ठता-युक्त हैं, क्योंकि उनका सम्बन्ध भगवान् कृष्ण से है, अतएव वे विश्व के कल्याण से सम्बन्धित हैं। केवल इस तरह के प्रश्नों से आत्मा पूरी तरह तुष्ट हो सकता है।" (भागवत १.२.५)

अब नारद वसुदेव द्वारा पूछी गई भक्ति-विधि के विषय में उत्तर देंगे। आगे चलकर इस वार्ता के अन्त में वसुदेव के त्रुटिपूर्ण मनोभावों के उत्तर देंगे।

श्रुतोऽनुपठितो ध्यात आदृतो वानुमोदितः ।
सद्यः पुनाति सद्धर्मो देवविश्वद्रुहोऽपि हि ॥ १२॥

शब्दार्थ

श्रुतः—सुना हुआ; अनुपठितः—बाद में सुनाया गया; ध्यातः—ध्यान किया हुआ; आदृतः—श्रद्धापूर्वक स्वीकार किया गया; वा—अथवा; अनुमोदितः—अन्यों द्वारा किये जाने पर प्रशंसित; सद्यः—तुरन्त; पुनाति—पवित्र कर देता है; सत्-धर्मः—शुद्ध भक्ति; देव—देवताओं को; विश्व—तथा ब्रह्माण्ड को; द्रुहः—घृणा से भरे हुए; अपि हि—भी।

भगवान् के प्रति की गई शुद्ध भक्ति आध्यात्मिक रूप से इतनी प्रबल होती है कि ऐसी दिव्य सेवा के विषय में मात्र सुनने, सुनकर इसकी महिमा का गायन करने, इसका ध्यान करने,

आदरपूर्वक तथा श्रद्धापूर्वक इसे स्वीकार करने या अन्यों की भक्ति की प्रशंसा करने से, वे मनुष्य भी तुरन्त शुद्ध हो जाते हैं, जो देवताओं से तथा अन्य सारे जीवों से घृणा करते हैं।

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने टीका की है कि *सद्धर्म* शब्द *भागवत-धर्म* का द्योतक है। श्रीधर स्वामी ने भी इसकी पुष्टि की है। *भागवत धर्म* आध्यात्मिक दृष्टि से इतना प्रबल होता है कि ऐसे लोग भी, जो सांसारिक मापदण्ड से कई तरह से पापपूर्ण आचरण में फँस जाते हैं, इस श्लोक में वर्णित किसी भी विधि को ग्रहण करने से सरलतापूर्वक पवित्र बनाये जा सकते हैं। सामान्य पुण्य प्रथा में, मनुष्य अपनी सेवा के बदले कुछ न कुछ प्राप्त करने की आशा से ईश्वर की पूजा करता है। इसी प्रकार निर्विशेषवादी अपनी मुक्ति के लिए आकांक्षा करता है और ऐसी इच्छा करते हुए यह सोचता रहता है कि वह ईश्वर के तुल्य बन जायेगा। किन्तु *भागवत धर्म* में ऐसी अशुद्धि नहीं पाई जाती। भागवत धर्म ऐसी भगवद्भक्ति है, जिसमें एकमात्र लक्ष्य ईश्वर की तुष्टि रहती है। यदि कोई व्यक्ति इस विधि को ठुकरा कर श्रवण करना, शिक्षा देना या अन्य विधि पर ध्यान करना चाहता है, तो शुद्धि का अवसर तुरन्त हाथ से निकल जाता है।

न तो सामान्य भौतिकतावादी योग-विधियाँ, जो योगशक्ति प्राप्त करने के लिए होती हैं, न ही चिन्तन पर आधारित निर्विशेष विधियाँ इतनी शक्तिसम्पन्न होती हैं कि वे पापपूर्ण आचरण में गिरे हुओं को तुरन्त ही शुद्ध कर दें। *सद्धर्म* या *भागवत धर्म* इस मामले में अद्वितीय हैं कि सबसे अधिक पतितात्मा भी कृष्ण के या उनके शुद्ध भक्त के चरणकमलों की शरण ग्रहण करके सर्वोच्च सिद्ध अवस्था प्राप्त कर सकता है। चैतन्य महाप्रभु के उपदेश-कार्य में, विशेषकर जगाई तथा माधाई नामक पापी भाइयों के मामले में इसका विशद प्रदर्शन हुआ है।

त्वया परमकल्याणः पुण्यश्रवणकीर्तनः ।
स्मारितो भगवानद्य देवो नारायणो मम ॥ १३॥

शब्दार्थ

त्वया—तुम्हारे द्वारा; परम—सर्वाधिक; कल्याणः—आनन्दपूर्ण; पुण्य—अत्यन्त पवित्र; श्रवण—सुनना; कीर्तनः—तथा कीर्तन (किसके विषय में); स्मारितः—स्मरण कराया गया; भगवान्—भगवान्; अद्य—आज; देवः नारायणः—भगवान् नारायण; मम—मेरे।

आपने आज मुझे अपने प्रभु, परम आनन्दमय भगवान् नारायण का स्मरण करा दिया। परमेश्वर इतने कल्याणमय हैं कि जो कोई भी उनका श्रवण एवं कीर्तन करता है, वह पूरी तरह से पवित्र बन जाता है।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी ने कहा है *नारायणस्तादृशधर्मे मदीय गुरुरूपो नारायणर्षिः।* इस श्लोक में *नारायण* शब्द नारायण ऋषि के अवतार का द्योतक है, जिन्होंने इस धर्म में नारद के गुरु की भूमिका निभाई। श्रील जीव गोस्वामी ने यह भी संकेत किया है *स्मारितइति कृष्णोपासनावेशेन तस्यापि विस्मरणात्। स्मारित* शब्द का अर्थ है "उसका स्मरण हो आता है"। यह शब्द सूचित करता है कि कृष्ण की पूजा में लीन होने से नारद नर-नारायण को भूल गये थे। दूसरे शब्दों में, यदि भक्ति में गहन व्यस्तता किसी व्यक्ति को कभी-कभी भगवान् का विस्मरण करा देती है, तो कृष्ण की व्यवस्था से ऐसे निष्ठावान सेवक को फिर से भगवान् का स्मरण कराया जायेगा।

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
आर्षभाणां च संवादं विदेहस्य महात्मनः ॥ १४॥

शब्दार्थ

अत्र अपि—इस मामले (भागवत धर्म का वर्णन करने) में; उदाहरन्ति—उदाहरण दिया जाता है; इमम्—यह; इतिहासम्—ऐतिहासिक वृत्तान्त; पुरातनम्—प्राचीन; आर्षभाणाम्—ऋषभ-पुत्रों का; च—तथा; संवादम्—वार्ता; विदेहस्य—विदेह के राजा जनक से; महा-आत्मनः—विशाल हृदय वाला आत्मा।.

भगवान् की भक्तिमय सेवा की व्याख्या करने के लिए मुनियों ने महात्मा राजा विदेह तथा ऋषभ-पुत्रों के मध्य हुई वार्ता का प्राचीन इतिहास सुनाया है।

तात्पर्य : यहाँ पर *इतिहासम् पुरातनम्* "प्राचीन ऐतिहासिक वृतांत" शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। *श्रीमद्भागवत निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्*—अर्थात वैदिक ज्ञान रूपी कल्पवृक्ष का पका हुआ फल। *भागवत* के पृष्ठों में हमें भगवान् तथा बद्धजीवों के मोक्ष से सम्बन्धित वास्तविक ऐतिहासिक कथाएँ मिलती हैं। ये ऐतिहासिक विवरण न तो गल्प हैं, न पौराणिक कथाएँ, अपितु भगवान् तथा उनके भक्तों के अद्भुत कार्यकलापों का वर्णन करते हैं, जो इस निम्न युग के आगमन के पूर्ववर्ती युगों में घटित हुईं। यद्यपि संसारी विद्वानों ने *भागवत* को पौराणिक कथाकृति या अर्वाचीनकृति के रूप में अंकित करने का प्रयास किया है, लेकिन वास्तविक तथ्य यह है कि *श्रीमद्भागवत* पूर्ण-दिव्य वाङ्मय है, जिसमें भौतिक एवं दिव्य लोकों में, न केवल इस ब्रह्माण्ड की समूची स्थिति का वर्णन हुआ है, अपितु

इस ब्रह्माण्ड से परे स्थित ब्रह्माण्ड का भी वर्णन हुआ है। यदि कोई व्यक्ति *श्रीमद्भागवत* गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करे, तो वह अत्यन्त विद्वान आध्यात्मवेत्ता बन सकता है। श्री चैतन्य महाप्रभु चाहते हैं कि सारे पुण्यात्मा *श्रीमद्भागवत* सुनकर उच्च कोटि के विद्वान बनें और तब सारे विश्व में भगवान् की महिमा का वैज्ञानिक ढंग से प्रचार करें। यह अनिवार्य है कि हम नव-योगेन्द्रों तथा राजा विदेह के मध्य हुई वार्ताओं जैसी ऐतिहासिक कथाएँ पूर्ण श्रद्धा तथा विनयपूर्वक सुनें। तब जैसाकि इस अध्याय के श्लोक १२ में कहा गया है, यदि हमारा पूर्वजन्म घृणित कार्यों से पूर्ण भी रहा हो, तो हम *श्रीमद्भागवत* के श्रवण मात्र से भगवान् तथा उनके शुद्ध भक्तों जैसे दिव्य पद को प्राप्त हो सकेंगे। यह *भागवत* इतिहास की अद्वितीय शक्ति है, जो उन व्यर्थ के संसारी ऐतिहासिक विवरणों के सर्वथा विपरीत है, जिनसे अन्ततः कोई उद्देश्य पूरा नहीं होता। यद्यपि संसारी इतिहासकार अपने कार्य के औचित्य की पुष्टि इस दलील से करते हैं कि हमें इतिहास से शिक्षा मिलती है, किन्तु हम स्पष्ट देख सकते हैं कि आज संसार की स्थिति इतनी तेजी से बिगड़ रही है कि असह्य संघर्ष तथा अव्यवस्था फैली हुई है और तथाकथित इतिहासकार विवश होकर देख रहे हैं। किन्तु जिन *भागवत*-इतिहासकारों ने *श्रीमद्भागवत* का श्रद्धापूर्वक श्रवण किया है, वे शान्त तथा आनन्दमय संसार की पुनर्प्राप्ति के लिए सम्यक तथा जीवन्त उपदेश दे सकते हैं। इसलिए जो लोग इतिहास के द्वारा अपने बौद्धिक जीवन को सम्पन्न बनाना चाहते हैं, उन्हें *श्रीमद्भागवत* की ऐतिहासिक कथाएँ पढ़नी चाहिए। इससे उनके बौद्धिक एवं आध्यात्मिक जीवन में पूर्णता प्राप्त हो सकेगी।

प्रियव्रतो नाम सुतो मनोः स्वायम्भुवस्य यः ।
तस्याग्नीध्रस्ततो नाभिरृषभस्तत्सुतः स्मृतः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

प्रियव्रतः—महाराज प्रियव्रत; नाम—नामक; सुतः—पुत्र; मनोः स्वायम्भुवस्य—स्वायम्भुव मनु का; यः—जो; तस्य—उसका; आग्नीध्रः—आग्नीध्र (पुत्र था); ततः—उससे (आग्नीध्र से); नाभिः—राजा नाभि; ऋषभः—भगवान् ऋषभदेव; तत्-सुतः—उसका पुत्र; स्मृतः—स्मरण किया जाता है।

स्वायम्भुव मनु को महाराज प्रियव्रत नामक पुत्र हुआ और प्रियव्रत के पुत्रों में से आग्नीध्र था, जिससे नाभि उत्पन्न हुआ। नाभि का पुत्र ऋषभदेव कहलाया।

तात्पर्य : इस श्लोक में ऋषभदेव के पुत्रों की वंशावली की पृष्ठ-भूमि दी हुई है।

तमाहुर्वासुदेवांशं मोक्षधर्मविवक्षया ।
अवतीर्णं सुतशतं तस्यासीद्ब्रह्मपारगम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसे; आहुः—कहते हैं; वासुदेव-अंशम्—भगवान् वासुदेव का अंश; मोक्ष-धर्म—मोक्ष प्राप्त करने की विधि; विवक्षया—शिक्षा देने की इच्छा से; अवतीर्णम्—इस संसार में प्रकट हुआ; सुत—पुत्र; शतम्—एक सौ; तस्य—उसके; आसीत्—थे; ब्रह्म—वेदों के; पार-गम्—पूर्णतया आत्मसात करने वाले।

श्री ऋषभदेव को भगवान् वासुदेव का अंश माना जाता है। उन्होंने इस जगत में उन धार्मिक सिद्धान्तों का प्रसार करने के लिए अवतार लिया था, जिनसे जीवों को चरम मोक्ष प्राप्त होता है। उनके एक सौ पुत्र थे, वे सभी वैदिक ज्ञान में पारंगत थे।

तेषां वै भरतो ज्येष्ठो नारायणपरायणः ।
विख्यातं वर्षमेतद्यन्नाम्ना भारतमद्भुतम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

तेषाम्—उनमें से; वै—दरअसल; भरतः—भरत; ज्येष्ठः—सबसे बड़ा; नारायण-परायणः—भगवान् नारायण का भक्त; विख्यातम्—प्रसिद्ध है; वर्षम्—लोक; एतत्—यह; यत्-नाम्ना—जिसके नाम पर; भारतम्—भारतवर्ष; अद्भुतम्—अद्भुत।

भगवान् ऋषभदेव के एक सौ पुत्रों में से सबसे ज्येष्ठ भरत थे, जो भगवान् नारायण के प्रति पूर्णतया समर्पित थे। भरत की ख्याति के कारण ही यह लोक अब महान् भारतवर्ष के नाम से विख्यात है।

स भुक्तभोगां त्यक्त्वेमां निर्गतस्तपसा हरिम् ।
उपासीनस्तत्पदवीं लेभे वै जन्मभिस्त्रिभिः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; भुक्त—भोगे गये; भोगाम्—आनन्दों को; त्यक्त्वा—त्याग कर; इमाम्—इस (पृथ्वी) के; निर्गतः—घर छोड़कर; तपसा—तपस्या से; हरिम्—भगवान् हरि को; उपासीनः—पूजा करके; तत्-पदवीम्—उसका गन्तव्य; लेभे—प्राप्त किया; वै—निस्सन्देह; जन्मभिः—जन्मों में; त्रिभिः—तीन।

राजा भरत ने सारे भौतिक आनन्द को क्षणिक तथा व्यर्थ मानते हुए इस जगत का परित्याग कर दिया। अपनी सुन्दर युवा पत्नी तथा परिवार को छोड़कर उन्होंने कठोर तपस्या द्वारा भगवान् की पूजा की और तीन जन्मों के बाद भगवद्धाम प्राप्त किया।

तात्पर्य : भरत के तीन जन्मों तक राजा के रूप में, मृग के रूप में तथा उच्च परमहंस भक्त के रूप में पूर्ण विवरण *श्रीमद्भागवत* के पाँचवें स्कन्ध में दिया हुआ है।

तेषां नव नवद्वीपपतयोऽस्य समन्ततः ।
कर्मतन्त्रप्रणेतार एकाशीतिर्द्विजातयः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तेषाम्—उन (ऋषभदेव के एक सौ पुत्रों) में से; नव—नौ; नव-द्वीप—नौ द्वीपों के (जिनमें भारतवर्ष बना है); पतयः—स्वामी; अस्य—इस वर्ष के; समन्ततः—इसे पूरी तरह से समेटते हुए; कर्म-तन्त्र—सकाम वैदिक यज्ञों के मार्ग के; प्रणेतारः—प्रणेता, प्रारम्भ करने वाले; एकाशीतिः—इक्यासी; द्वि-जातयः—द्विज ब्राह्मण।

ऋषभदेव के शेष पुत्रों में से नौ पुत्र भारतवर्ष के नौ द्वीपों के शासक बने। और उन्होंने इस लोक पर पूर्ण आधिपत्य जमाया। शेष इक्यासी पुत्र द्विज ब्राह्मण बन गये और उन्होंने सकाम यज्ञों (कर्मकाण्ड) के वैदिक मार्ग का शुभारम्भ करने में सहायता की।

तात्पर्य : ऋषभदेव के नौ पुत्रों द्वारा जिन नौ द्वीपों पर शासन चलाया गया वे जम्बूद्वीप के नौ *वर्ष* थे—ये हैं भारत, किन्नर, हरि, कुरु, हिरण्मय, रम्यक, इलावृत, भद्राश्व तथा केतुमाल।

नवाभवन्महाभागा मुनयो ह्यर्थशंसिनः ।
श्रमणा वातरसना आत्मविद्याविशारदाः ॥ २० ॥
कविर्हविरन्तरीक्षः प्रबुद्धः पिप्पलायनः ।
आविर्होत्रोऽथ द्रुमिलश्चमसः करभाजनः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

नव—नौ; अभवन्—थे; महा-भागाः—अत्यन्त भाग्यवान; मुनयः—मुनि; हि—निस्सन्देह; अर्थ-शंसिनः—परब्रह्म की व्याख्या करने में लगे हुए; श्रमणाः—इस तरह महान् प्रयास करते हुए; वात-रसनाः—वायु ओढ़े हुए (नंगे); आत्म-विद्या—आध्यात्मिक विज्ञान में; विशारदाः—विद्वान; कविः हविः अन्तरीक्षः—कवि, हविर्, तथा अन्तरीक्ष; प्रबुद्धः पिप्पलायनः—प्रबुद्ध तथा पिप्पलायन; आविर्होत्रः—आविर्होत्र; अथ—भी; द्रुमिलः—द्रुमिल; चमसः करभाजनः—चमस तथा करभाजन।

ऋषभदेव के शेष नौ पुत्र अत्यन्त भाग्यशाली मुनि थे, जिन्होंने परम सत्य के ज्ञान का विस्तार करने के लिए घोर परिश्रम किया। वे नंगे रहकर इधर-उधर विचरण करते थे और आध्यात्मिक विज्ञान में अतीव दक्ष थे। इनके नाम थे—कवि, हविर्, अन्तरीक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस तथा करभाजन।

तात्पर्य : विदेहराज निमि ने ऋषभदेव के साधु-पुत्रों, नौ योगेन्द्रों से निम्नलिखित नौ प्रश्न पूछे थे (१) सर्वोच्च शुभ क्या है? (२.३०); (२) धर्म, स्वभाव, आचार, वाक्य तथा भागवत के लक्षण क्या हैं? (२.४४); (३) भगवान् विष्णु की बहिरंगा शक्ति क्या है? (३.१); (४) इस माया से कैसे विलग हुआ जा सकता है? (३.१७); (५) ब्रह्म की असली पहचान क्या है? (३.३४); (६) कर्म के तीन प्रकार अर्थात् सकाम कर्म के फल-भोग पर आधारित कर्म, भगवान् को अर्पित कर्म तथा नैष्कर्म्य

कौन-कौन से हैं? (३.४१); (७) ईश्वर के विभिन्न अवतारों की कौन-कौन सी लीलाएँ हैं? (४.१); (८) भगवान् के विरोधी तथा भक्ति से विहीन (दूसरे शब्दों में अभक्त का)? का गन्तव्य क्या है (५.१); तथा (९) चारों युगावतारों के वर्ण, रूप तथा नाम क्या हैं और उनके पूजन की विधि क्या है? (५.१९)

इन प्रश्नों के दिव्य उत्तर महान् भक्तों कवि, हविर्, अन्तरीक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस तथा करभाजन द्वारा दिये गये। इन नवो परमहंसों ने बारी-बारी से नवों प्रश्नों के उत्तर दिये, जो निम्नलिखित श्लोकों में प्राप्त हैं(१) २.३३-४३, (२) २.४५-५५, (३) ३.३-१६, (४) ३.१८-३३, (५) ३.३५-४०, (६) ३.४३-५५, (७) ४.२-२३, (८) ५.२-१८ तथा (९) ५.२०-४२।

त एते भगवद्रूपं विश्वं सदसदात्मकम ।
आत्मनोऽव्यतिरेकेण पश्यन्तो व्यचरन्महीम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

ते एते—ये (नवों योगेन्द्र); भगवत्—भगवान् के; रूपम्—रूप; विश्वम्—समस्त ब्रह्माण्ड को; सत्-असत्-आत्मकम्—स्थूल तथा सूक्ष्म पदार्थों से युक्त; आत्मनः—आत्मा से; अव्यतिरेकेण—अभिन्न; पश्यन्तः—देखते हुए; व्यचरन्—घूमते थे; महीम्—पृथ्वी पर।

ये मुनि, समस्त ब्रह्माण्ड को इसके सारे स्थूल तथा सूक्ष्म पदार्थों सहित, भगवान् के प्राकट्य के रूप में तथा आत्मा से अभिन्न देखते हुए पृथ्वी पर विचरण करते थे।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार इस श्लोक में तथा इसके आगे वाले श्लोक में स्पष्ट दिखलाया गया है कि ऋषभदेव के नौ साधु-सदृश पुत्र, जो *नव-योगेन्द्र* नाम से विख्यात थे, *पारमहंस्यचरितम्* नामक आध्यात्मिक सिद्धि की उच्चतम अवस्था में स्थित थे अर्थात् परमहंस के लक्षणों से युक्त थे। दूसरे शब्दों में, वे सब शुद्ध भगवद्भक्त थे। श्रीधर स्वामी तथा जीव गोस्वामी के अनुसार *आत्मनोऽव्यतिरेकेण* शब्द सूचित करते हैं कि नव-योगेन्द्र ब्रह्माण्ड को अपने से तथा साथ साथ परमात्मा, भगवान् कृष्ण से अभिन्न देखते थे। विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इसके अतिरिक्त यह टीका की है *आत्मनः परमात्मनः सकाशाद् अव्यतिरेकेण, विश्वस्य तच्छक्तिमयत्वाद् इति भावः* "*आत्मनः* परमात्मा का सूचक है। यह ब्रह्माण्ड भगवान् या परमात्मा से अभिन्न है, क्योंकि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उन्हीं की शक्ति से बना हुआ है।"

यद्यपि यहाँ पर उल्लेख हुआ है कि ब्रह्माण्ड जीव तथा भगवान् दोनों से अभिन्न है, किन्तु किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि जीव या परमेश्वर भौतिक है। वैदिक नीति कहती है *असंगो ह्ययं पुरुष:* जीव तथा भगवान् को इस भौतिक जगत से कोई सरोकार नहीं है। यही नहीं, *भगवद्गीता* कहती है कि आठ सूक्ष्म तथा स्थूल तत्त्वों से युक्त सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड से भगवान् की *भिन्ना प्रकृति* या *अपरा प्रकृति*— पृथक्, निकृष्ट शक्ति—बनती है। भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* में स्पष्ट कहा है कि उन्होंने ईश-लोक में अपना नित्य धाम स्थापित किया है, जहाँ जीवन नित्य, आनन्दमय तथा ज्ञानमय है और ईश्वर का अंशरूप जीव भी नित्य है (*ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:*)। यही नहीं, भगवान् के इस नित्यलोक में एक बार पहुँचकर जीव इस नश्वर जगत में फिर कभी नहीं लौटता (*यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम*)।

इसलिए यह पूछा जा सकता है कि जीव तथा भगवान् को भौतिक जगत से अभिन्न क्यों कहा गया है ? इस प्रश्न का बहुत ही सुन्दर उत्तर नारद मुनि द्वारा *श्रीमद्भागवत्* के प्रथम स्कन्ध में दिया गया है। (१.५.२०) *इदं हि विश्वं भगवान् इवेतरो यतो जगत्स्थाननिरोधसम्भवा:* ''भगवान् स्वयं ही यह विश्व हैं, फिर भी वे इससे पृथक् हैं। उन्हीं से ही यह विश्व उद्भूत हुआ है, उन्हीं पर टिका है और प्रलय के बाद उन्हीं में प्रवेश करता है।'' नारद के इस कथन पर टीका करते हुए श्रील प्रभुपाद ने इस नाजुक दार्शनिक विन्दु की सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की है ''शुद्ध भक्त के लिए मुकुन्द या भगवान् श्रीकृष्ण की धारणा सगुण तथा निर्गुण दोनों है। निराकार विश्वस्थिति भी मुकुन्द है, क्योंकि यह मुकुन्द की शक्ति का ही प्राकट्य है। उदाहरणार्थ, वृक्ष अपने में पूर्ण इकाई है, लेकिन पत्तियाँ तथा शाखाएँ वृक्ष के अंश (अंग) स्वरूप हैं। वे भी वृक्ष हैं, लेकिन वृक्ष स्वयं न तो पत्तियाँ है, न शाखाएँ। वेदों का यह कथन कि समस्त दृश्य जगत ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है, यह बताता है कि चूँकि प्रत्येक वस्तु परब्रह्म से उद्भूत है, अतएव उनसे भिन्न कुछ भी नहीं है। इसी प्रकार अंगरूप हाथ तथा पाँव शरीर कहलाते हैं, लेकिन पूर्ण इकाई के रूप में शरीर न तो हाथ है, न पाँव। भगवान् तो दिव्य सच्चिदानन्द रूप हैं, अतएव भगवान् की शक्ति की सृष्टि भी अंशत: सच्चिदानन्द स्वरूप प्रतीत होती है।

वैदिक कथन के अनुसार भगवान् स्वभावत: पूर्ण शक्तिमान हैं और इस प्रकार उनकी परम शक्तियाँ सदैव पूर्ण तथा उनसे अभिन्न होती हैं। आध्यात्मिक तथा भौतिक आकाश एवं इन दोनों की सामग्रियाँ

भगवान् की अन्तरंगा तथा बहिरंगा शक्तियों की अभिव्यक्तियाँ हैं। बहिरंगा शक्ति अपेक्षतया निकृष्ट है और अन्तरंगा शक्ति श्रेष्ठ (परा) है। यह पराशक्ति जीवनी शक्ति है अतएव यह पूर्णतया (भगवान् से) अभिन्न है, लेकिन बहिरंगा शक्ति निष्क्रिय होने के कारण केवल अंशत: अभिन्न है। किन्तु ये दोनों ही शक्तियाँ न तो समस्त शक्तियों के जनक भगवान् के समान हैं, न उनसे बढ़कर हैं। ऐसी शक्तियाँ सदैव उनके अधीन होती हैं, जिस प्रकार कि विद्युत् शक्ति, चाहे वह कितनी ही बलशाली क्यों न हो, सदैव इंजीनियर के वश में होती है।

''मनुष्य तथा अन्य प्राणी उन्हीं भगवान् की अन्तरंगा शक्ति से उत्पन्न हैं। इस प्रकार जीव भी भगवान् से अभिन्न हैं। किन्तु वह कभी भी न तो भगवान् के तुल्य है और न उनसे बढ़कर।''

श्रील प्रभुपाद ने यहाँ यह स्पष्ट बतलाया है कि विराट जगत तथा जीव दोनों परमेश्वर से उद्भूत हैं—जैसाकि *वेदान्त सूत्र* में तथा *श्रीमद्भागवत* के इस प्रारम्भिक कथन *जन्माद्यस्य यत:*—परब्रह्म वह है, जिससे हर वस्तु उद्भूत है—से पुष्टि होती है। इसी प्रकार *ईशोपनिषद्* का कथन है—

ॐ पूर्णमद: पूर्णमिदं पूर्णात पूर्णमुदच्यते।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥

परमेश्वर *पूर्ण* हैं और चूँकि यह जगत उनकी शक्ति का प्राकट्य है, इसलिए यह भी *पूर्ण* प्रतीत होता है। दूसरे शब्दों में चूँकि यह भौतिक जगत भगवान् से उद्भूत है, अत: यह उनसे अभिन्न है, ठीक वैसे ही जैसे कि सूर्य की किरणें सूर्य-मण्डल से अभिन्न हैं, जो उन किरणों का उद्गम स्रोत है। इसी प्रकार सारे जीव भी, जो कि भगवान् की पराशक्ति के अंश हैं, कृष्ण से अभिन्न हैं, यद्यपि यह अभिन्नता गुणात्मक है, मात्रात्मक नहीं। अंगूठी और कंगन जैसे स्वर्ण आभूषणों में पाया जाने वाला स्वर्ण खान में पाये जाने वाले स्वर्ण से गुणात्मक रीति से अभिन्न है, किन्तु खान में पाया जाने वाला स्वर्ण मात्रा की दृष्टि से कंगन अथवा अंगूठी में पाये जाने वाले स्वर्ण की तुच्छ मात्रा से कहीं श्रेष्ठ होता है। इसी प्रकार, यद्यपि हम गुणात्मक दृष्टि से ईश्वर के ही समरूप हैं, किन्तु उनकी असीम शक्ति से उद्भूत होने से हम मात्रा की दृष्टि से अत्यन्त सूक्ष्म तथा भगवान् की परम शक्ति के नित्य अधीन हैं। इसीलिए भगवान् *विभु* अर्थात् असीम शक्तिमान कहलाते हैं और हम *अणु* अर्थात् सूक्ष्म तथा आश्रित होते हैं। इसकी और अधिक पुष्टि वैदिक वाङ्मय के इस कथन से होती है *नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम/एको बहूनां यो*

विदधाति कामान् (कठ उपनिषद् २.२.१३)। ऐसे असंख्य नित्य जीव हैं, जो परम एकाकी आत्मा, परमेश्वर पर सनातन रुप से तथा पूर्णरूपेण अधीन हैं। यह अधीनता भौतिक जगत द्वारा उत्पन्न माया नहीं, जैसाकि निर्विशेषवादी बतलाते हैं, प्रत्युत यह सनातन सम्बन्ध है जिसमें भगवान् सदैव श्रेष्ठ रहते हैं और हम सदैव तुच्छ। भगवान् नित्य स्वतंत्र हैं और हम नित्य अधीन। भगवान् अपने में नित्य चरम हैं और हम उनके नित्य सम्बन्धी हैं।

यद्यपि भगवान् अन्य किसी जीव से या सभी जीवों को मिला करके अतीव महान् हैं, किन्तु हर जीव भगवान् से गुणात्मक रूप से अभिन्न है क्योंकि सारे जीव उनके अंश रूप हैं (*ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:*) इस प्रकार, एक तरह से, जीव भौतिक जगत से भिन्न नहीं है, जो भगवान् की कनिष्ठा शक्ति है। जीव तथा भौतिक-प्रकृति दोनों ही *प्रकृति* हैं या *परम पुरुष* के स्त्रीवाचक आश्रित अंश हैं। अन्तर इतना ही है कि जीव भगवान् की श्रेष्ठ शक्ति है, क्योंकि जीव भगवान् की ही तरह चेतन तथा सनातन है, जबकि भौतिक शक्ति भगवान् की निकृष्ट शक्ति हैं, जो चेतना रहित तथा नित्य-स्वरूप से रहित है।

इस सन्दर्भ में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने जोर देते हुए कहा है कि परम वस्तु तो एक है और वह परमात्मा कहलाती है। जब किसी को परमात्मा का थोड़ा भी दर्शन मिल जाता है, तो उसकी जीवन की जानकारी *आत्म-दर्शन* या आत्म-साक्षात्कार कहलाती है। जब इस आंशिक जानकारी का अभाव होता है, तो उसका अस्तित्व *अनात्म-दर्शन*—या अपने विषय में अज्ञान कहलाता है। आत्मा से परमात्मा का अन्तर जाने बिना परमात्मा के आंशिक दर्शन में जीव को अपनी आध्यात्मिक उपलब्धि का गर्व हो सकता है, वह मनोरथ में बह सकता है और अपने को सभी प्रकार से ईश्वर के तुल्य मान सकता है। किन्तु *अनात्म-दर्शन* या भौतिक अज्ञान को प्राप्त जीव यह अनुभव करता है कि वह परमेश्वर से पूर्णतया भिन्न है और चूँकि हर व्यक्ति इस जगत में अपने में ही रुचि लेता है, इसलिए जीव यह सोचकर कि ईश्वर उससे सर्वथा भिन्न है, और उसमें तथा ईश्वर में विशेष सम्बन्ध नहीं है, ईश्वर को भूल जाता है। इस तरह निर्विशेष अध्यात्मवादी ईश्वर तथा जीव के एकत्व पर ही बल देते हैं, जबकि सामान्य भौतिकतावादीजन ईश्वर तथा जीव के अन्तर पर आवश्यकता से अधिक बल देते हैं। किन्तु चैतन्य महाप्रभु ने स्पष्ट बतलाया है कि परब्रह्म एक-साथ—एक तथा भिन्न है (*अचिन्त्य भेदाभेद*

तत्त्व)। वस्तुत: हम ईश्वर से शाश्वत रूप से भिन्न हैं। चूँकि ईश्वर तथा जीव शाश्वत रूप से पृथक्-पृथक् जीव हैं, अतएव उनमें नित्य सम्बन्ध की सम्भावना रहती हैं। और चूँकि हर जीव गुणात्मक रूप से परमेश्वर से अभिन्न है, अतएव यह सम्बन्ध हर जीव के लिए चरम सत्य का सार है। *चैतन्य चरितामृत* (मध्य २०.१०८) में कहा गया है *जीवेर स्वरूप' हय—कृष्णेर नित्यदास'* प्रत्येक जीव का परम आवश्यक स्वरूप ईश्वर के सेवक रूप में भगवान् से उसका सम्बन्ध है।

यदि कोई यह समझ ले कि वह भगवान् का नित्य दास है, तो वह यह सही ढंग से समझ सकता है कि जीव तथा भौतिक जगत दोनों ही कृष्ण से अभिन्न हैं, क्योंकि वे उनसे अद्भुत हैं, अतएव वे एक दूसरे से भी अभिन्न हैं। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ने कहा है, ''यह भौतिक जगत एकसाथ भेदाभेद तत्त्व की अभिव्यक्ति है और परमेश्वर का स्वरूप है। इस प्रकार नश्वर, क्षणिक एवं सदैव परिवर्तनशील भौतिक जगत वैकुण्ठ से अर्थात नित्य जगत से भिन्न है।''

इस श्लोक में ध्यान देने की बात है कि *सद्-असद्-आत्मकम्* शब्द भौतिक तथा आध्यात्मिक वस्तुओं के द्योतक नहीं हैं। यह जगत *सत्* तथा *असत्* अर्थात् सूक्ष्म तथा स्थूल भौतिक वस्तुओं से बना हुआ बतलाया जाता है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार ''व्यक्त जगत के भीतर अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था अव्यक्त कहलाती है और व्यक्त जगत के परे जो जगत है, वह 'दिव्य' कहलाता है। व्यक्त को घेरने वाले आवरणों के भीतर, काल के क्षेत्र में, जगत की वह अवस्था होती है, जिसका अनुभव नियामक देवों द्वारा होता है। इसी अवस्था में कारण (*असत्*) तथा कार्य (*सत्*) विद्यमान रहते हैं। ब्रह्माण्ड जो कि तीसरा *तत्त्व* या वास्तविकता है और जो कि भगवान् का स्वरूप है, उसमें एक परम सत्य का किसी प्रकार का विरोध उत्पन्न कर पाना असम्भव है।'' दूसरे शब्दों में, यद्यपि अज्ञानी भौतिकतावादी वैज्ञानिक यह पता लगाने के लिए जोरदार खोज कर सकते हैं कि वह कौन-सा सिद्धान्त है, जो ईश्वर के अस्तित्व का निषेध कर सके, किन्तु श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती स्पष्ट कहते हैं कि यह ब्रह्माण्ड भगवान् से उद्भूत होने के कारण आध्यात्मिक दृष्टि से उनसे अभिन्न है, किन्तु इस जगत के भीतर कहीं भी ऐसा भौतिक सिद्धान्त नहीं पाया जा सकता, जो भगवान् की सर्वोच्चता का निषेध कर सके। वास्तव में, आध्यत्मिक आकाश के साथ साथ यह सम्पूर्ण जगत, भगवान् कृष्ण की असीम

महिमा के शाश्वत प्रमाण के रूप में विद्यमान है। इस ज्ञान के साथ नवों योगेन्द्र दिव्य आनन्द के साथ पृथ्वी में इधर-उधर विचरण कर रहे थे।

अव्याहतेष्टगतयः सुरसिद्धसाध्य
गन्धर्वयक्षनरकिन्नरनागलोकान् ।
मुक्ताश्चरन्ति मुनिचारणभूतनाथ-
विद्याधरद्विजगवां भुवनानि कामम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अव्याहत—बिना रोक-टोक के; इष्ट-गतयः—इच्छानुसार घूमते हुए; सुर—देवताओं के; सिद्ध—पूर्ण योगी; साध्य—साध्यगण; गन्धर्व—स्वर्ग के गवैये; यक्ष—कुवेर के संगी; नर—मनुष्य; किन्नर—छोटे देवता, जो इच्छानुसार अपना रूप बदल सकते हैं; नाग—तथा सर्प; लोकान्—लोकों में; मुक्ताः—स्वतंत्र, मुक्त; चरन्ति—विचरण करते हैं; मुनि—मुनियों के; चारण—गवैये; भूत-नाथ—शिवजी के भूत-प्रेत अनुयायीगण; विद्याधर—विद्याधरगण; द्विज—ब्राह्मण; गवाम्—तथा गायों के; भुवनानि—लोकों को; कामम्—जिसे भी वे चाहते हैं।

नवों योगेन्द्र मुक्तात्माएँ हैं, जो देवताओं, सिद्धों, साध्यों, गन्धर्वों, यक्षों, मानवों तथा किन्नरों एवं सर्पों के लोकों में मुक्त भाव से विचरण करते हैं। उनके मुक्त विचरण को कोई संसारी शक्ति रोक नहीं सकती और वे अपनी इच्छानुसार मुनियों, देवदूतों, शिवजी के भूत-प्रेत अनुयायियों, विद्याधरों, ब्राह्मणों तथा गौवों के लोकों में विचरण कर सकते हैं।

त एकदा निमेः सत्रमुपजग्मुर्यदृच्छया ।
वितायमानमृषिभिरजनाभे महात्मनः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; एकदा—एक बार; निमेः—राजा निमि के; सत्रम्—सोम यज्ञ में; उपजग्मुः—पहुँचे; यदृच्छया—इच्छानुसार; वितायमानम्—ले जाये जाकर; ऋषिभिः—ऋषियों द्वारा; अजनाभे—अजनाभ (भारतवर्ष का प्राचीन नाम) में; महा-आत्मनः—महात्मा के।

एक बार वे अजनाभ में (पृथ्वी का पूर्ववर्ती नाम) महाराजा निमि के यज्ञ में पहुँचे, जो महर्षियों की देखरेख में सम्पन्न किया जा रहा था।

तान्दृष्ट्वा सूर्यसङ्काशान्महाभागवतान्नृप ।
यजमानोऽग्नयो विप्राः सर्व एवोपतस्थिरे ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

तान्—उनको; दृष्ट्वा—देखकर; सूर्य—सूर्य; सङ्काशान्—तेज में स्पर्धा कर रहे; महा-भागवतान्—भगवान् के शुद्ध भक्तों को; नृप—हे राजा (वसुदेव); यजमानः—यज्ञ सम्पन्न करने वाला (निमि महाराज); अग्नयः—अग्नियाँ; विप्राः—ब्राह्मणगण; सर्वे—सभी लोग; एव—भी; उपतस्थिरे—सम्मान में खड़े हो गये।

हे राजन्, तेज में सूर्य की बराबरी करने वाले उन भगवद्भक्तों को देखकर वहाँ पर उपस्थित सबके सब—यज्ञ सम्पन्न करने वाले, ब्राह्मण तथा यज्ञ की अग्नियाँ भी—सम्मान में उठकर खड़े हो गये।

विदेहस्तानभिप्रेत्य नारायणपरायणान् ।
प्रीतः सम्पूजयां चक्रे आसनस्थान्यथार्हतः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

विदेहः—निमि महाराज; तान्—उनको; अभिप्रेत्य—पहचान कर; नारायण-परायणान्—भक्तों को, जिनके एकमात्र लक्ष्य नारायण थे; प्रीतः—प्रसन्न; सम्पूजयाम् चक्रे—पूरी तरह से उनकी पूजा की; आसन-स्थान्—बैठाये गये; यथा-अर्हतः—जो जिस योग्य था।

राजा विदेह (निमि) समझ गये कि नवों मुनि भगवान् के परम भक्त थे। इसलिए उनके शुभ आगमन से अत्याधिक प्रफुल्लित होकर उन्होंने उन्हें उचित आसन प्रदान किया और उचित ढंग से पूजा की, जिस तरह कोई भगवान् की पूजा करता है।

तात्पर्य : यहाँ पर *यथार्हतः* शब्द महत्त्वपूर्ण है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार इसका अर्थ *यथोचितम्* अर्थात् ''उचित शिष्टाचार के अनुसार'' है। यहाँ स्पष्ट उल्लेख हुआ है कि नवों योगेन्द्र *नारायण-परायण* थे अर्थात् भगवान् नारायण या कृष्ण के परम भक्त थे। अतएव *यथार्हतः* शब्द सूचित करता है कि राजा ने नवों मुनियों की पूजा आदर्श वैष्णव शिष्टाचार के अनुसार की। परम वैष्णवों की पूजा के लिए शिष्टाचार को विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *साक्षाद् धरित्वेन समस्तशास्त्रै* शब्दों द्वारा व्यक्त किया है इसका अर्थ है कि भगवान् का पूर्णतया शरणागत होने से उच्चस्थ वैष्णव को भगवान् की इच्छा का पारदर्शी माध्यम मान लेना चाहिए। *चैतन्य चरितामृत* में यह कहा गया है कि भगवान् के शुद्ध भक्तों की एक क्षण की भी संगति मिलने से जीवन की सारी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। इसलिए जैसाकि *प्रीतः* शब्द से सूचित होता है, राजा निमि मुनियों के शुभागमन से अति प्रमुदित थे, अतएव उन्होंने उनकी उसी तरह पूजा की, जिस तरह भगवान् की पूजा की जाती है।

यद्यपि निर्विशेषवादी दार्शनिक यह दावा करते हैं कि प्रत्येक जीव ईश्वर के तुल्य है, किन्तु वे निष्ठुरता से अपने तथाकथित गुरुओं के विचारों की उपेक्षा करते हुए ब्रह्म के विषय में स्वतंत्र चिन्तन करते हैं और अपने तथाकथित गुरुओं की निर्विशेष सनकों के विरुद्ध अपने मनमाने विचार रखते हैं। दूसरे शब्दों में, यद्यपि मायावादी निर्विशेषवादी दावा करते हैं कि हर कोई ईश्वर हैं, किन्तु भगवान् के

शाश्वत रूप तथा लीलाओं की सत्यता को ठुकराकर वे अन्ततः भगवान् के प्रति अपराधमूलक प्रवृत्ति का प्रदर्शन करते हैं। इस तरह वे दुर्बुद्धि के कारण समस्त जीवों की नित्यता एवं भगवद्धाम में उनके कार्यकलापों को न मानकर उनकी शाश्वत स्थिति को तुच्छ बनाते हैं। निर्विशेषवादी अपनी कपोल कल्पनाओं द्वारा भगवान् तथा उनके अंशरूप जीवों के पद को नामरहित, रूपरहित प्रकाश में परिणत करके घटाना चाहते हैं, जो उनके मनोरथ के अनुसार परब्रह्म है। किन्तु वैष्णवजन भगवान् का स्वागत करते हैं और सरलता से यह समझ जाते हैं कि असीम भगवान् को इस जगत में पाये जाने वाले बद्ध, ससीम, संसारी व्यक्तियों से कुछ भी लेना-देना नहीं होता। ये निर्विशेषवादी दम्भपूर्वक यह कल्पना कर बैठते हैं कि उनके वर्तमान अनुभव के परे कोई दिव्य या असीम व्यक्ति नहीं है। किन्तु वैष्णवजन बुद्धिमान होने से यह समझते हैं कि हमारे सीमित अनुभव के परे भी अनेक अद्‌भुत वस्तुएँ हैं। अतएव वे कृष्ण के उन वचनों को स्वीकार कर लेते हैं, जिन्हें उन्होंने *भगवद्गीता* (१५.१९) में कहा है—

यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।

स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत॥

"जो कोई भी मुझे संशयरहित होकर पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में जानता है, वह सबकुछ जानने वाला है। अतएव हे भरत-पुत्र! वह व्यक्ति मेरी पूर्ण भक्ति में रत होता है।" इसी सन्दर्भ में श्रील प्रभुपाद कहते हैं कि जीव तथा भगवान् की स्वाभाविक स्थिति के बारे में अनेक दार्शनिक ऊहापोह करते हैं। इस श्लोक में भगवान् स्पष्ट बतलाते हैं कि जो भगवान् कृष्ण को परम पुरुष के रूप में जानता है, वह वास्तव में सारी वस्तुओं का ज्ञाता है। अपूर्ण ज्ञाता परम सत्य के विषय में केवल चिन्तन करता रहता है, जबकि पूर्ण ज्ञाता अमूल्य समय का अपव्यय किये बिना सीधे कृष्णभावनामृत में लग जाता है अर्थात् भगवद्‌भक्ति करने लगता है...। ऐसा नहीं कि मनुष्य केवल शुद्ध चिन्तन करता रहे। मनुष्य को विनीत भाव से *भगवद्गीता* से सुनना चाहिए कि सारे जीव सदैव भगवान् के अधीन हैं। जो भी इसे समझ लेता है, वही कृष्ण के कथनानुसार वेदों के प्रयोजन को समझता है, अन्य कोई इसे नहीं समझता।" इसीलिए नवों योगेन्द्रों जैसे परम भक्त भगवान् की सर्वोपरिता सदैव स्वीकार करते हैं, जैसाकि यहाँ पर *नारायण परायणान्* शब्दों द्वारा व्यक्त हुआ है।

राजा निमि वैष्णव थे, अतएव उन्होंने महर्षियों की पूजा उसी सम्मान के साथ की, जिस सम्मान से वे भगवान् की पूजा करते, जैसाकि *यथार्हत:* शब्द से दिखलाया गया है। यद्यपि निर्विशेषवादी मिथ्या ही यह दावा करते हैं कि प्रत्येक जीव ईश्वर के तुल्य है, किन्तु वे प्रत्येक जीव का उचित आदर भी नहीं कर सकते, क्योंकि भगवान् के चरणकमलों पर उन्होंने पहले ही अपराध किया है। उनकी तथाकथित पूजा, यहाँ तक कि उनके गुरुओं की भी पूजा अन्ततोगत्वा स्वार्थपरक और अवसरवादी होती है। जब कोई निर्विशेषवादी यह कल्पना करता है कि वह ईश्वर बन गया है, तो फिर उसे अपने तथाकथित गुरु की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। किन्तु वैष्णवजन तो भगवान् की सर्वश्रेष्ठता स्वीकार करने से समस्त जीवों को, विशेष रूप से उन परम भाग्यशाली जीवों को, जिन्होंने भगवान् के चरणकमलों की शरण ले रखी है, नित्य आदर प्रदान करने के लिए इच्छुक और तत्पर रहते हैं। वैष्णव द्वारा भगवान् के प्रतिनिधि की पूजा स्वार्थपरक या अवसरवादी नहीं होती, अपितु भगवान् तथा उनके प्रतिनिधियों के प्रति शाश्वत प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, जैसाकि *प्रीत:* शब्द द्वारा यहाँ सूचित होता है। अतएव यह इस श्लोक से स्पष्ट है कि न केवल ऋषभदेव के नवों पुत्र, अपितु स्वयं राजा निमि भी निर्विशेषवाद की कृत्रिम एवं सीमित कल्पना के विरुद्ध, भगवान् के महान् भक्त थे।

तान्रोचमानान्स्वरुचा ब्रह्मपुत्रोपमान्नव ।
पप्रच्छ परमप्रीत: प्रश्रयावनतो नृप: ॥ २७॥

शब्दार्थ

तान्—उनको; रोचमानान्—चमकते हुए; स्व-रुचा—अपने ही तेज से; ब्रह्म-पुत्र-उपमान्—ब्रह्मा के पुत्रों के समान; नव—नौ; पप्रच्छ—पूछा; परम-प्रीत:—आनन्दविभोर; प्रश्रय—विनयपूर्वक; अवनत:—नमस्कार किया; नृप:—राजा ने।

दिव्य आनन्द से विभोर होकर राजा ने विनयपूर्वक अपना शीश झुकाया और तब नौ मुनियों से प्रश्न पूछना शुरू किया। ये नवों महात्मा अपने ही तेज से चमक रहे थे और इस प्रकार से ब्रह्मा के पुत्रों अर्थात् चार कुमारों के समान प्रतीत हो रहे थे।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी ने यह इंगित किया है कि *स्वरुचा* शब्द यह बताता है कि *नव-योगेन्द्र* अपने आध्यात्मिक तेज से चमक रहे थे, अपने आभूषणों या अन्य कारण से नहीं। परमात्मा अर्थात, भगवान् कृष्ण समस्त प्रकाश के आदि स्रोत हैं। उनका दैदीप्यमान शरीर उस सर्वव्यापी ब्रह्मज्योति का स्रोत है, जो असंख्य ब्रह्माण्डों को आश्रय देने वाली अनन्त दिव्य ज्योति है (*यस्य प्रभा प्रभवतो*

जगदण्डकोटि)। आत्मा भी भगवान् का अंश होने से आत्मतेजवान है। वस्तुत: भगवद्धाम की प्रत्येक वस्तु आत्मतेजवान है, जैसाकि *भगवद्गीता* (१५.६) में कहा गया है—

न तद् भासयते सूर्यो न शशांको न पावक:।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥

यह पहले भी कई प्रकार से बतलाया जा चुका है कि *नव-योगेन्द्र* भगवान् के शुद्ध भक्त थे। पूर्णतया कृष्णभावनाभावित जीव होने से स्वभावत: उनसे आत्मा का प्रखर तेज बाहर निकलता रहता था, जैसाकि *स्वरुचा* शब्द से सूचित है। श्रील श्रीधर स्वामी ने यह भी इंगित किया है कि *ब्रह्मपुत्रोपमान्* शब्द सूचित करता है कि *नव-योगेन्द्र* चारों कुमारों के ही समान उच्च आध्यात्मिक पद को प्राप्त थे। चौथे स्कंध में बतलाया गया है कि महाराज पृथु ने चारों कुमारों का अत्यन्त प्रेम तथा सम्मान के साथ स्वागत किया था और यहाँ पर राजा निमि भी उसी तरह से भगवान् ऋषभदेव के नवों पुत्रों का स्वागत करते हैं। उन्नति तथा सुख की कामना करने वालों के लिए आदर्श आध्यात्मिक शिष्टाचार यही है कि उच्च वैष्णवों का स्वागत प्रेम तथा सम्मान के साथ किया जाय।

श्रीविदेह उवाच
मन्ये भगवत: साक्षात्पार्षदान्वो मधुद्विष: ।
विष्णोर्भूतानि लोकानां पावनाय चरन्ति हि ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

श्री-विदेह: उवाच—राजा विदेह ने कहा; मन्ये—मानता हूँ; भगवत:—भगवान् के; साक्षात्—प्रत्यक्ष; पार्षदान्—निजी संगियों को; व:—तुम्हारे; मधु-द्विष:—मधु के शत्रु के; विष्णो:—भगवान् विष्णु के; भूतानि—सेवकों को; लोकानाम्—सारे लोकों के; पावनाय—पवित्र करने के लिए; चरन्ति—इधर-उधर विचरण करते हैं; हि—निस्सन्देह।

राजा विदेह ने कहा : मैं सोचता हूँ कि आप मधु असुर के शत्रु-रूप में प्रसिद्ध भगवान् के निजी संगी हैं। दरअसल, भगवान् विष्णु के शुद्ध भक्त ब्रह्माण्ड-भर में किसी स्वार्थवश नहीं, अपितु समस्त बद्धजीवों को पवित्र करने के निमित्त विचरण करते रहते हैं।

तात्पर्य : राजा निमि महर्षियों के दिव्य कार्यों की प्रशंसा करते हुए उनका स्वागत करते हैं। यह सुविदित है कि भगवान् प्रकृति के तीनों गुणों से परे हैं, जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१३) में कहा गया है *मामेभ्य: परमव्ययम्।* इसी प्रकार उनके भक्त भी परम पद पर स्थित हैं। यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि भगवान् विष्णु के संगी जैसे दिव्य जीवों को किस तरह भौतिक जगत में देखा जा सकता है?

इसीलिए यहाँ पर कहा गया है *पावनाय चरन्ति हि*—भगवान् विष्णु के संगी विश्व-भर में भगवान् की ओर से पतित बद्ध आत्माओं का उद्धार करने के लिए विचरण करते रहते हैं। राज्यपाल का प्रतिनिधि बन्दीगृह के भीतर विचरण करता देखा जा सकता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं लगाया जाना चाहिए कि वह बद्ध बन्दी हो गया है। यह समझा जा सकता है कि वह बन्दीगृह के भीतर उन बन्दियों को संभवत: छुड़ाने के लिए समझौता करने आया है, जिन्होंने अपनी अपराधी वृत्ति को सुधार लिया है। इसी तरह भगवान् के भक्त, जिन्हें *परिव्राजकाचार्य* कहते हैं सारे विश्व में विचरण करते हुए हर एक को आनन्द तथा ज्ञान से पूर्ण शाश्वत जीवन के लिए भगवान् कृष्ण की शरण में आने और भगवद्धाम जाने का निमंत्रण देते रहते हैं।

श्रीमद्भागवत के छठे स्कन्ध में अजामिल के मोक्ष के प्रसंग में भगवान् विष्णु के पार्षदों की दया का वर्णन हुआ है। श्रील भिक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इंगित किया है कि भगवान् विष्णु के पार्षद भगवान् की ही तरह दयालु होते हैं। यद्यपि मानव समाज के अज्ञानी सदस्य भगवान् विष्णु के इन दासों के पास पहुँचने में रुचि नहीं दिखाते, लेकिन भगवद्भक्त बिना किसी मिथ्या प्रतिष्ठा की भावना से, बद्धजीवों को उनके अनवरत दुर्भाग्य से मुक्त कराने के लिए कार्य करते रहते हैं।

दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः ।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

दुर्लभः—प्राप्त करना कठिन; मानुषः—मनुष्य का; देहः—शरीर; देहिनाम्—देहधारियों के लिए; क्षण-भङ्गुरः—किसी भी क्षण विनष्ट हो जाने वाला; तत्र—उस मनुष्य-शरीर में; अपि—भी; दुर्लभम्—प्राप्त करना अधिक कठिन; मन्ये—मानता हूँ; वैकुण्ठप्रिय—जो भगवान् वैकुण्ठ को अत्यधिक प्रिय हैं, उनके; दर्शनम्—दर्शन को।.

बद्धजीवों के लिए मनुष्य-शरीर प्राप्त कर पाना सबसे अधिक कठिन है और यह किसी भी क्षण नष्ट हो सकता है। किन्तु मैं सोचता हूँ कि जिन्होंने मनुष्य-जीवन प्राप्त कर भी लिया है, उनमें से विरले ही उन शुद्ध भक्तों की संगति प्राप्त कर पाते हैं, जो वैकुण्ठ के स्वामी को अत्यन्त प्रिय हैं।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार *देहिनाम्* शब्द का अर्थ है *बहवो देहा भवन्ति येषां ते*—बद्धजीव जो असंख्य भौतिक शरीर धारण करते हैं। कतिपय मनमाने चिन्तकों के अनुसार मनुष्य-जीवन को प्राप्त जीव कभी भी पशु या पादप योनि में नीचे नहीं जायेगा। किन्तु तो भी यह तथ्य है कि

अपने वर्तमान कार्यों के अनुसार हम ईश्वर के नियमों द्वारा ऊपर उठेंगे या नीचे गिरेंगे। सम्प्रति मानव समाज में जीवन के स्वभाव के बारे में कोई स्पष्ट या सही ज्ञान नहीं है। मूर्ख वैज्ञानिकों ने अबोध लोगों को विश्वास दिलाने के लिए अत्यन्त जटिल पारिभाषिक शब्द एवं सिद्धान्त गढ़ रखे हैं कि जीवन का उद्‌भव रासायनिक क्रियाओं से होता है। श्रील प्रभुपाद ने अपनी पुस्तक (*जीवन का स्रोत जीवन*) में इस धोखाधड़ी की पोल खोली है और यह इंगित किया है कि यद्यपि विज्ञानी लोग जीवन को रसायनों से उत्पन्न मानते हैं, किन्तु वे रसायनों की अनन्त मात्राओं द्वारा एक कीट तक भी नहीं बना सकते। वस्तुत: जीवन तथा चेतना आत्मा के लक्षण हैं।

श्रील प्रभुपाद ने अपनी पुस्तक (*जीवन का स्रोत जीवन*) में कहा है, ''जीवित प्राणी एक शरीर-रूप से, दूसरे में चले जाते हैं। ये स्वरूप पहले से विद्यमान रहते हैं। जीव केवल स्थानान्तरित होता है, जिस तरह मनुष्य एक कमरे से दूसरे में स्थानान्तरित हो जाता है। पहला कमरा प्रथम श्रेणी का है, दूसरा द्वितीय श्रेणी का और तीसरा तृतीय श्रेणी का। मान लीजिए कि कोई व्यक्ति निचली श्रेणी के कमरे से प्रथम श्रेणी के कमरे में आता है। व्यक्ति वही रहता है, लेकिन अब अपने खर्च करने की क्षमता से अर्थात् *कर्म* के अनुसार वह उच्चतर कमरे में जा सकता है। असली विकास का अर्थ भौतिक विकास न होकर चेतना का विकास होता है।'' प्रत्येक जीव-योनि में चेतना होती है और यही चेतना जीव का लक्षण है, जो भगवान् की परा शक्ति है। चौरासी लाख योनियों में से होकर चेतन जीव के देहान्तरण के इस पक्ष को समझे बिना *दुर्लभो मानुषो देह:* (मानव जीवन दुर्लभ है) जैसे शब्द समझ में नहीं आ सकते।

अब लोगों को इस अनिवार्य ज्ञान से वंचित रखा जा रहा है। वे मनुष्य योनि के नीचे की अस्सी लाख योनियों में जा गिरने के खतरे से अवगत नहीं हैं। यह स्वाभाविक ही है कि मनुष्य प्रगति के विषय में सोचे। हम अनुभव करना चाहते हैं कि हमारा जीवन प्रगति पर है और हम अपने जीवन की गुणवत्ता को सुधार रहे हैं। इसलिए लोगों को यह बतलाया जाना अत्यावश्यक है कि मूल्यवान मनुष्य-जीवन का दुरुपयोग न हो और वे यह समझें कि मानव-जीवन जो सबसे बड़ा सुअवसर प्रदान कर सकता है, वह कृष्णभावनामृत को ग्रहण करना है। जिस प्रकार पृथ्वी पर रहने के प्रक्षेत्र उच्च, मध्यम तथा निम्न श्रेणियों में बँटे हुए हैं, उसी तरह ब्रह्माण्ड में उच्च, मध्यम तथा निम्न लोक हैं। योगाभ्यास से

अथवा धार्मिक कर्मकाण्डों द्वारा मनुष्य अपने को इस ब्रह्माण्ड के उच्चतर लोकों में स्थानान्तरित कर सकता है। दुसरी ओर धार्मिक सिद्धान्तों की उपेक्षा करने से वह निम्न लोक को चला जाता है। किन्तु भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* (८.१६) में घोषित किया है *आब्रह्मभुवनाल्लोका: पुनरावर्तिनोऽर्जुन।* इस तरह अन्त में यही निष्कर्ष निकला कि भौतिक ब्रह्माण्ड के भीतर प्रत्येक लोक अनुपयुक्त निवासस्थान है, क्योंकि प्रत्येक लोक में वृद्धावस्था तथा मृत्यु के मूलभूत दोष पाये जाते हैं। किन्तु भगवान् हमें आश्वासन देते हैं कि भौतिक जगत से परे स्थित भगवान् के दिव्य धाम में शाश्वत, आनन्दमय तथा ज्ञानयुक्त जीवन है। यह भौतिक जगत क्षणिक, दुखदायी तथा अज्ञान से पूर्ण है, किन्तु आध्यात्मिक जगत, जिसे वैकुण्ठ कहते हैं, नित्य, आनन्दमय तथा ज्ञान से पूर्ण है।

मनुष्य का अत्यन्त विकसित मस्तिष्क ईश्वर प्रदत्त उपहार है, अतएव हम नित्य तथा नश्वर में अन्तर करने के लिए अपनी बुद्धि का प्रयोग कर सकते हैं। *भगवद्गीता* (२.१६) में कहा गया है कि

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत:।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभि:॥

''तत्त्वदर्शियों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि पदार्थ का तो कोई चिर स्थायित्व नहीं है, किन्तु आत्मा अपरिवर्तित रहता है। उन्होंने इन दोनों की प्रकृति के अध्ययन द्वारा यह निष्कर्ष निकाला है।''

जिन्होंने भगवान् तथा उनके धाम को जीवन का चरम लक्ष्य स्वीकार किया है, वे *वैकुण्ठ-प्रिय* कहलाते हैं। यहाँ पर राजा निमि कहते हैं कि ऐसे विद्वान अध्यात्मवादियों की संगति प्राप्त करना निश्चय ही मानव-जीवन की सिद्धि है। इस सन्दर्भ में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर का सुझाव है कि हम निम्नलिखित श्लोक पर विचार करें—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥

''[भगवान् ने कहा] : समस्त शरीरों में श्रेष्ठ मनुष्य-शरीर बहुत बड़ी उपलब्धि है, जिसे विरले ही पाते हैं और इसकी तुलना नाव से की जा सकती है। इस नाव का दक्ष कप्तान गुरु है और मैंने अनुकूल

वायु (वेद रूपी) भेज दी है। इस तरह मैंने भवसागर को पार करने की सारी सुविधाएँ उपलब्ध करा दी हैं। जिस मनुष्य ने मनुष्य-जीवन की ये उत्तम सुविधाएँ प्राप्त कर ली हैं, किन्तु वह भवसागर को पार नहीं करता, उसे अपनी ही आत्मा का मारने वाला मानना चाहिए।'' (भागवत ११.२०.१७)

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती के अनुसार दया की शक्तिशाली अनुभूतियों से नियंत्रित, भगवान् के नित्य दास, वैष्णवों के रूप में इस जगत में उन बद्धजीवों का उद्धार करने के लिए अवतरित होते है, जो अपने संसारी कार्यों के परिणाम स्वरूप बँधे हुए हैं। ऐसे वैष्णव उन व्यक्तियों पर भी दया दर्शाते हैं, जो कठोर परिश्रम के द्वारा निराकार ब्रह्म की खोज में लगे हुए हैं। श्री नारद मुनि ने कहा है कि बिना भगवत्प्रेम के ब्रह्म का ऐसा श्रमसाध्य निर्विशेष चिन्तन निश्चय ही कष्टकर है (*नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितम्*)। तो फिर सामान्य स्थूल भौतिकतावादी जीवन की असंख्य समस्याओं के विषय में क्या कहा जाय? हमें इसका व्यावहारिक अनुभव है कि पाश्चात्य देशों में अधिकांश लोग धन पाने के लिए और इन्द्रियतृप्ति के स्वर्गिक स्वप्नों के लिए कठोर श्रम करते हैं। अन्य लोग सामान्य भौतिकतावादी जीवन से ऊब कर अपने अस्तित्व का निषेध करके तथाकथित योग तथा ध्यान के द्वारा ईश्वर के अस्तित्व में मिल जाना चाहते हैं। इन दोनों वर्गों के दुखी लोगों को कृष्णभावनामृत आन्दोलन की कृपा प्राप्त हो रही है, जिससे वे इन्द्रियतृप्ति के अपने सपनों के साथ साथ अपने दुखमय निर्विशेष चिन्तन को भी दूर करते हैं। वे ईश्वर के पवित्र नाम का कीर्तन करना, आनन्दमग्न होकर नाचना और भगवान् को अर्पित किये गये भोजन को ग्रहण करना सीख रहे हैं। वे *भगवद्गीता* में स्वयं भगवान् द्वारा कहे गये दिव्य ज्ञान से प्रोत्साहन प्राप्त करते हैं। जैसाकि भगवान् *भगवद्गीता* (९.२) में कहते हैं *सुसुखं कर्तुमव्ययम्।* आध्यात्मिक स्वतंत्रता की वास्तविक विधि को सम्पन्न करना प्रसन्नतापूर्ण है और उसे इन्द्रितृप्ति को लक्ष्य बनाकर किये जाने वाले सकाम कर्मों या शुष्क निर्विशेष चिंतन से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता। अब अधिकाधिक लोग कृष्णभावनामृत विधि को स्वीकार करके हर्षित होते हैं और अन्यों को कृष्ण-कृपा का वितरण कर रहे हैं। इस तरह से सारा जगत जागृत हो उठेगा और कृष्णभावनामृत आन्दोलन से प्रोत्साहित हो उठेगा, जो कि वैष्णवों की कृपा का व्यावहारिक प्रदर्शन है।

अत आत्यन्तिकं क्षेमं पृच्छामो भवतोऽनघाः ।

संसारेऽस्मिन्क्षणार्धोऽपि सत्सङ्गः शेवधिर्नृणाम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

अतः—इसलिए; आत्यन्तिकम्—परम्; क्षेमम्—कल्याण; पृच्छामः—पूछ रहा हूँ; भवतः—आपसे; अनघाः—हे पापरहित; संसारे—जन्म-मृत्यु के चक्र में; अस्मिन्—इस; क्षण-अर्धः—आधा क्षण तक चलने वाले; अपि—ही; सत्-सङ्गः—भगवद्भक्तों की संगति; शेवधिः—महान् कोश, निधि; नृणाम्—मनुष्यों का।

अतएव हे अनघो, मैं आपसे पूछता हूँ कि कृपा करके मुझे यह बतायें कि परम कल्याण क्या है? इस जन्म-मृत्यु के जगत में शुद्ध भक्तों के साथ आधे क्षण की भी संगति किसी मनुष्य के लिए अमूल्य निधि है।

तात्पर्य : इस श्लोक में *शेवधिः* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है ''महान् खजाना या निधि''। जिस तरह सामान्य व्यक्ति सहसा कोई खजाना पाकर हर्ष से उछल पड़ता है, उसी तरह बुद्धिमान व्यक्ति भगवान् के शुद्ध भक्त की संगति पाकर पुलकित हो उठता है, क्योंकि इससे मनुष्य अपने जीवन को सफल बना सकता है। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार *आत्यन्तिकम् क्षेमम्* अर्थात् ''परम कल्याण'' शब्द उस स्थिति के सूचक हैं, जिसमें तनिक भय स्पर्श तक नहीं कर सकता। अब हम जन्म, वृद्धावस्था, रोग तथा मृत्यु के चक्र में (*संसारे*) फँसे हुए हैं। चूँकि हमारी सारी स्थिति क्षण-भर में ध्वंस हो सकती है, अतएव हम निरन्तर भयभीत रहते हैं। किन्तु भगवान् के शुद्ध भक्तगण इस भौतिक जगत से हमें मुक्त करने के लिए व्यावहारिक विधि बतला सकते हैं, जिससे हम सभी प्रकार के भयों को दूर कर सकते हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार आतिथेय को चाहिए कि सामान्य शिष्टाचार के नाते आये हुए अतिथि की कुशल-क्षेम तुरन्त पूछे। किन्तु भगवान् के आत्म-तुष्ट भक्तों से ऐसा प्रश्न करना ठीक नहीं है, क्योंकि ये भक्त स्वयं ही समस्त कल्याण के दाता हैं। श्रील विश्वनाथ के अनुसार राजा जानता था कि इन मुनियों से उनके कार्यकलापों के विषय में पूछना व्यर्थ है, क्योंकि भगवद्भक्तों का एकमात्र कार्य जीवन के चरम लक्ष्य को प्राप्त करना है। *भगवद्गीता* के अनुसार जीवन का लक्ष्य अपने को जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त करके ईश्वर के नित्यदास के रूप में आध्यात्मिक आनन्द के पद पर अपने को पुनः स्थापित करना है। भगवान् के शुद्ध भक्त संसारी कार्यों में अपना समय नहीं गँवाते। कभी कभी वैष्णव प्रचारक के मूर्ख सम्बन्धीगण पश्चाताप करते हैं कि ऐसे दिव्य प्रचारक ने अपने जीवन का उपयोग भौतिक कार्य के लिए क्यों नहीं किया और इस तरह आध्यात्मिक जीवन का

अभ्यास करने से इतना सारा धन खोया गया। ऐसे अज्ञानी लोग इसकी कल्पना नहीं कर पाते कि जिन लोगों ने भगवान् के मिशन हेतु अपना तन-मन अर्पित कर दिया है, उन्हें आध्यात्मिक धरातल पर असीम समृद्धि प्राप्त है। राजा निमि स्वयं विद्वान वैष्णव थे, इसलिए उन्होंने इन मुनियों से सामान्य सांसारिक बातों के विषय में मूर्खतापूर्ण प्रश्न नहीं किया। उसने तुरन्त ही जीवन के चरम लक्ष्य *आत्यन्तिकं क्षेमम्* के विषय में पूछा।

विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार *अनघाः* शब्द के दो अर्थ हैं। यह शब्द सूचित करता है कि नव-योगेन्द्र स्वयं पापों से सर्वथा मुक्त थे। इससे यह भी सूचित होता है कि उनके दर्शन तथा विनम्र श्रवण मात्र का परम सौभाग्य मिलने से एक साधारण पापी व्यक्ति अपने पापों से मुक्त होकर इच्छित फल प्राप्त कर सकता है।

कोई यह आक्षेप कर सकता है कि ये महामुनि अभी अभी आये थे, अतएव राजा को इतनी जल्दी जीवन की सिद्धि के विषय में उनसे पूछने के लिए अधीर नहीं होना चाहिए था। कदाचित् राजा को चाहिए था कि जब तक मुनिगण उससे पूछने को स्वयं न कहते, वह प्रतीक्षा करता। किन्तु ऐसी काल्पनिक आपत्ति का उत्तर *क्षणार्धोऽपि* शब्दों से मिल जाता है। एक क्षण या आधे क्षण की भी साधु-संगति जीवन-सिद्धि प्रदान करने के लिए पर्याप्त है। सामान्य व्यक्ति को यदि बहुत बड़ा खजाना दिया जाय तो वह तुरन्त उसे लेना चाहेगा। इसी तरह राजा निमि सोच रहा था, "मैं इतने बड़े मुनियों को पाकर इन्हें दीर्घकाल तक रोके रहने में अपने को भाग्यशाली क्यों मानूँ? चूँकि मैं सामान्य व्यक्ति हूँ, अतएव आप लोग शीघ्र ही चले जायेंगे। अतएव क्यों न आपकी इस पवित्र संगति का लाभ उठा लूँ।"

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती के अनुसार इस जगत में दया के कई प्रकार होते हैं। किन्तु सामान्य दया से समस्त दुखों का अन्त सम्भव नहीं है। दूसरे शब्दों में, ऐसे अनेक मानवतावादी, परोपकारी तथा सामाजिक सुधारक हैं, जो निश्चय ही मानवता की भलाई के लिए कार्य करते हैं। ऐसे लोगों को एक स्वर से दयालु समझा जाता है। किन्तु इनकी दया के बावजूद मानवता को जन्म, बुढ़ापा, रोग तथा मृत्यु के चँगुल में कष्ट सहना पड़ता है। मैं गरीबों के लिए भले ही मुफ्त भोजन बाँटूँ, किन्तु वे इस दयापूर्ण उपहार को खा लेने के बाद पुनः भूखे होंगे या उन्हें कोई अन्य कष्ट उठाना पड़ेगा। दूसरे शब्दों में, मात्र मानवतावाद या परोपकार से लोग वास्तव में सारे दुखों से मुक्त नहीं हो जाते। हाँ, उनका दुख केवल

बदल जाता है या आगे बढ़ जाता है। राजा निमि नव-योगेन्द्रों को देखकर प्रमुदित था, क्योंकि उसे ज्ञात था कि वे भगवान् के शाश्वत पार्षद थे। अतएव उसने सोचा, ''आप लोग मुझ जैसे संसारी अभागे व्यक्ति की तरह पाप कृत्यों की ओर उन्मुख नहीं हैं। अतएव आपके शब्दों में छल-छद्म नहीं है।''

संसारी बद्धजीव इन्द्रियतृप्ति विषयक विविध वार्ताओं की चर्चा रात-दिन करते रहते हैं। उन्हें दिव्य ज्ञान सुनने का कभी समय ही नहीं मिल पाता। किन्तु यदि वे संयोगवश से ही सही या अल्प समय के लिए ही, भगवान् के शुद्ध भक्त की संगति में *हरिकथा* सुनें, तो इस संसार में उनके कष्ट कम हो जाँय। जब कोई व्यक्ति मुक्त पुरुषों का दर्शन करता है, उनसे कृष्ण-कथा सुनता है, उनके साधु-आचरण का स्मरण करता है, तो इन्द्रियतृप्ति में अपने को बाँधे रखने की उसकी प्रवृत्ति घटती है और वह भगवान् की सेवा करने के लिए उत्सुक हो उठता है।

धर्मान्भागवतान्ब्रूत यदि नः श्रुतये क्षमम् ।
यैः प्रसन्नः प्रपन्नाय दास्यत्यात्मानमप्यजः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

धर्मान् भागवतान्—भक्ति का विज्ञान; ब्रूत—कृपया कहें; यदि—यदि; नः—हमारे; श्रुतये—ठीक से सुनने के लिए; क्षमम्—क्षमता है; यैः—जिस (भक्ति) से; प्रसन्नः—प्रसन्न होकर; प्रपन्नाय—शरणागत के लिए; दास्यति—देगा; आत्मानम्—स्वयं को; अपि—भी; अजः—अजन्मा भगवान्।

यदि आप यह समझें कि मैं इन कथाओं को ठीक तरह से सुनने में समर्थ हूँ, तो कृपा करके बतलायें कि भगवान् की भक्ति में किस तरह प्रवृत्त हुआ जाता है? जब कोई जीव भगवान् को अपनी सेवा अर्पित करता है, तो भगवान् तुरन्त प्रसन्न हो जाते हैं और बदले में शरणागत व्यक्ति को अपने आपको भी दे डालते हैं।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में दो प्रकार के सांसारिक दार्शनिक हैं, जो भगवान् के विषय में अपने मत प्रस्तुत करते हैं। कुछ तथाकथित धर्माचार्य दावा करते हैं कि हम ईश्वर से सर्वथा भिन्न हैं, अतएव वे ईश्वर को हमारी समझ में आने से परे मानते हैं। ऐसे अति द्वैतवादी दार्शनिक बाहर से अपने को पवित्र तथा ईश्वर में विश्वास रखने वाले होने का दावा करते हैं, किन्तु ईश्वर को जो कुछ हमारे अनुभव के अन्तर्गत है, उससे इतना भिन्न मानते हैं कि उनके अनुसार भगवान् के व्यक्तित्व या उनके गुणों के बारे में विचार-विमर्श करने का प्रयास व्यर्थ है। ऐसे बाहरी श्रद्धालु व्यक्ति सकाम कर्मों में तथा स्थूल

इन्द्रिय-भोग में फँसे रहते हैं, क्योंकि वे समाज, मित्रता और प्रेम के नामों के अन्तर्गत आने वाले सांसारिक सम्बन्धों में प्रेमांध हो जाते हैं।

अद्वैतवादी दार्शनिक दावा करते हैं कि ईश्वर तथा जीव में कोई अन्तर नहीं है और जीवन का चरम लक्ष्य है कि हम अपने निजी अस्तित्व को त्याग दें, जो माया के कारण है और निर्विशेष ब्रह्मज्योति में तदाकार हो लें, जो नाम, रूप, साज-सामग्री तथा व्यक्तित्व से रहित है। इस तरह इन दो श्रेणियों के दार्शनिकों में कोई भी दिव्य भगवान् को समझ पाने में समर्थ नहीं है।

श्री चैतन्य महाप्रभु ने अपने *अचिन्त्यभेदाभेदतत्त्व* के दिव्य उपदेश में स्पष्ट प्रदर्शित किया है कि गुणात्मक दृष्टि से हम ईश्वर से एक हैं, किन्तु मात्रात्मक दृष्टि से भिन्न हैं। यही नहीं भगवान् साकार चेतनास्वरूप हैं और उनका साकार रूप होता है। इसी प्रकार हम साकार चेतना हैं और मुक्त होने पर हमारा भी नित्य रूप होता है। अन्तर इतना ही है कि भगवान् के नित्य रूप तथा व्यक्तित्व में असीम शक्ति एवं ऐश्वर्य होता है, जबकि हमारी शक्ति तथा ऐश्वर्य अल्प हैं। हम अपने शरीर के प्रति सचेत हैं जबकि भगवान् कृष्ण या परब्रह्म हर एक के शरीर के प्रति सचेत हैं, जैसाकि *भगवद्गीता* में बतलाया गया है (*क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रषु भारत*)। यद्यपि ईश्वर जीव से अतीव महान् है, किन्तु ईश्वर तथा जीव दोनों ही रूप, कार्यों तथा भावों से युक्त नित्य पुरुष हैं।

भगवान् कृष्ण अपना विस्तार असंख्य जीवों में इसलिए करते हैं, जिससे उनके साथ वे *रसों* का भोग कर सकें। जीव भगवान् कृष्ण के भिन्नांश हैं और उनका कार्य प्रेमपूर्वक भगवान् की सेवा करना है। यद्यपि भगवान् सदैव प्रधान हैं तथा जीव नित्य ही अधीन है, किन्तु जब जीव बिना किसी निजी प्रतिफल की आशा से और प्रेमभाव से भगवान् की सेवा करते रहने की इच्छा से उनकी शरण में जाता है, तो भगवान् तुरन्त ही प्रसन्न हो जाते हैं, जिसको यहाँ पर *प्रसन्नः* शब्द से व्यक्त किया गया है। भगवान् कृष्ण इतने असीम दयालु तथा वदान्य (उदार) हैं कि शरणागत तथा प्रेम करने वाले सेवक के प्रति कृतज्ञता के फलस्वरूप वे उसे कोई भी वस्तु, यहाँ तक कि अपने आपको भी, तुरन्त दे डालने के लिए उन्मुख हो जाते हैं।

भगवान् की इस प्रेममयी लालसा के अनेक व्यावहारिक तथा ऐतिहासिक उदाहरण प्राप्त हैं। माता यशोदा के प्रेम में बालक कृष्ण ने, अपने दामोदर रूप में प्रेममयी माता के समक्ष अपने को अर्पित कर

दिया और दंडस्वरूप अपने को रस्सी से बँधवा लिया। इसी प्रकार पाण्डवों के गहन प्रेमवश अपने को ऋणी मानकर कृष्ण पार्थसारथी के रूप में कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में अर्जुन का रथ हाँकने के लिए तैयार हो गये। इसी प्रकार कृष्ण वृन्दावन में अपनी परम भक्त गोपियों को जो भगवान् की सर्वोच्च प्रेममयी भक्त मानी जाती हैं, प्रसन्न करने के तरीकों का सदैव चिन्तन करते रहते हैं।

भगवान् तथा उनके शुद्ध भक्तों के बीच इस प्रकार गहन प्रेममय भावों का आदान-प्रदान सम्भव न हो पाता, यदि सारे जीव गुणात्मक दृष्टि से भगवान् जैसे न होते और उनके अविभाज्य अंश न होते। दूसरी ओर, चूँकि भगवान् तथा सारे जीव शाश्वत व्यक्ति हैं, जिनमें हर एक की अपनी पृथक् चेतना है, अतएव भगवद्धाम में ऐसे प्रेममय आदान-प्रदान वास्तविक हैं। दूसरे शब्दों में, ईश्वर से चरम तादात्म्य तथा ईश्वर से चरम अन्तर—ये तो विभिन्न दार्शनिकों की सैद्धान्तिक कल्पनाएँ हैं। आध्यात्मिक प्रेम की सिद्धि जैसाकि इस श्लोक में वर्णित है *अचिन्त्यभेदाभेद* में निहित है और इस चरम सत्य को स्वयं कृष्ण ने चैतन्य महाप्रभु के रूप में अपने ब्रह्म-अवतार में प्रस्तुत किया। चैतन्य महाप्रभु के अनुयायियों ने इस सम्यक सिद्धान्त की स्थापना अनेक ग्रंथों में की है, किन्तु इनका चरम उत्कर्ष भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के उपदेशों में पाया जाता है, जिन्होंने इस ज्ञान को पूर्णरूपेण इस प्रकार से प्रस्तुत किया है कि जो न केवल भारत में समझा जा सकता है, अपितु विश्व के सारे लोगों के लिए बोधगम्य है। हमारा यह वर्तमान तुच्छ प्रयास उनके द्वारा सम्पन्न होने वाली *श्रीमद्भागवत* का भावार्थ और टीका को पूरा करने का है और हम निरन्तर यही प्रार्थना करते रहते हैं कि उनकी इच्छा के अनुकूल ही यह कार्य सम्पन्न हो सके। यदि चैतन्य महाप्रभु की शिक्षाओं को जिस रूप में पाश्चात्य भाषाओं में प्रस्तुत किया जा रहा है, समझ लिया जाये, तो भगवान् आध्यात्मिक सत्य के ऐसे निष्ठावान खोजी से संतुष्ट होंगे।

श्रीनारद उवाच

एवं ते निमिना पृष्टा वसुदेव महत्तमाः ।
प्रतिपूज्याब्रुवन्प्रीत्या ससदस्यर्त्विजं नृपम् ॥ ३२॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—श्री नारद ने कहा; **एवम्**—इस प्रकार; **ते**—वे; **निमिना**—राजा निमि द्वारा; **पृष्टाः**—पूछे गये; **वसुदेव**—हे वसुदेव; **महत्-तमाः**—सन्तों में सर्वश्रेष्ठ; **प्रतिपूज्य**—बदले में आदरसूचक शब्द कहकर; **अब्रुवन्**—वे बोले; **प्रीत्या**—स्नेहपूर्वक; **स-सदस्य**—यज्ञ सभा के सदस्यों के सहित; **ऋत्विजम्**—तथा पुरोहितों द्वारा; **नृपम्**—राजा से।.

श्री नारद ने कहा : हे वसुदेव, जब महाराज निमि नव-योगेन्द्रों से भगवद्भक्ति के विषय में पूछ चुके, तो उन साधु-श्रेष्ठों ने राजा को उसके प्रश्नों के लिए धन्यवाद दिया और यज्ञ सभा के सदस्यों तथा ब्राह्मण पुरोहितों की उपस्थिति में उससे स्नेहपूर्वक कहा।

तात्पर्य : श्रीधर स्वामी के अनुसार न केवल राजा अपितु सभा के सदस्य तथा यज्ञ करने वाले पुरोहित भी भगवान् का श्रवण तथा भक्ति की महिमा का कीर्तन करने में जुट गये थे। अब ये मुनि, कवि से प्रारम्भ करके बारी बारी से राजा के प्रश्नों का उत्तर देंगे।

श्रीकविरुवाच
मन्येऽकुतश्चिद्भयमच्युतस्य
पादाम्बुजोपासनमत्र नित्यम् ।
उद्विग्नबुद्धेरसदात्मभावाद्
विश्वात्मना यत्र निवर्तते भीः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

श्री-कविः उवाच—श्री कवि ने कहा; मन्ये—मैं मानता हूँ; अकुतश्चित्-भयम्—निर्भीकता; अच्युतस्य—अच्युत भगवान् की; पाद-अम्बुज—चरणकमलों की; उपासनम्—पूजा; अत्र—इस जगत में; नित्यम्—निरन्तर; उद्विग्न-बुद्धेः—विचलित बुद्धिवाले का; असत्—केवल क्षणभंगुर; आत्म-भावात्—आत्मा के रूप में सोचने से; विश्व-आत्मना—पूरी तरह से; यत्र—जिस (भगवद्भक्ति) में; निवर्तते—भाग जाता है; भीः—भय।

श्री कवि ने कहा : मैं मानता हूँ कि जिसकी बुद्धि भौतिक क्षणभंगुर जगत को ही मिथ्यापूर्वक आत्मस्वरूप मानने से निरन्तर विचलित रहती है, वह अच्युत भगवान् के चरणकमलों की पूजा द्वारा ही अपने भय से मुक्ति पा सकता है। ऐसी भक्ति में सारा भय दूर हो जाता है।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के मतानुसार इस श्लोक में आए *असद् आत्म भावात्* शब्द यह सूचित करते हैं कि जीव भय से निरन्तर उद्विग्न रहता है, क्योंकि वह अपनी नित्य पहचान क्षणभंगुर भौतिक शरीर तथा इसके साज-सामान से कर बैठता है। इसी प्रकार श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा है *भक्तिप्रतिकूल देहगेहादिष्वासक्तिम्।* अपने क्षणभंगुर शरीर तथा अपने तथाकथित घर, परिवार, मित्रों इत्यादि से अनुरक्त होने के कारण मनुष्य की बुद्धि सदैव भय से उद्विग्न रहती है और वह भगवद्भक्ति को समझ पाने या उसका अभ्यास करने में असमर्थ होता है। देहात्म बुद्धि में रहते हुए सम्पन्न किये गये तथाकथित धार्मिक कार्यकलाप सदैव भय से और उनके अन्तिम फल की चिन्ता से

घिरे रहते हैं। किन्तु भगवान् की शुद्ध भक्ति मनुष्य के भय तथा चिन्ता को दूर कर देती है, क्योंकि यह भक्ति वैकुण्ठ के स्तर पर अथवा आध्यात्मिक स्तर पर की जाती है, जहाँ न भय रहता है न चिन्ता। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार *भक्तियोग* की विधि इतनी प्रबल है कि *साधन भक्ति* की अवस्था में भी, जिसमें भक्ति को विधि-विधानों द्वारा सम्पन्न किया जाता है, नवदीक्षित भक्त को भगवान् की कृपा से निर्भयता का अनुभव होता है। ज्यों ज्यों भक्ति प्रौढ़ होती जाती है, भगवान् भक्त को अपना रूप दिखलाते हैं और तब सारा का सारा भय जाता रहता है।

हर जीव में ईश्वर की सेवा करने की स्वाभाविक लालसा पाई जाती है, किन्तु क्षणभंगुर शरीर से अपनी मिथ्या पहचान करने के कारण मनुष्य अपनी इस शुद्ध स्वाभाविक लालसा को खो देता है और वह शरीर, घर, परिवार इत्यादि के रूप में क्षणिक इन्द्रियतृप्ति के प्रति अनुरक्त हो जाता है। ऐसी मिथ्या अनुरक्ति का फल होता है निरन्तर कष्ट, जिसे एकमात्र भगवद्भक्ति द्वारा उखाड़ फेंका जा सकता है।

इस सन्दर्भ में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ने निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

तावद् भयं द्रविणदेहसुहृन्निमित्तं

शोकः स्पृहा परिभावो विपुलश्च लोभः।

तावन् ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं

यावन्न तेंऽघ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः॥

"हे प्रभु! संसार के लोग समस्त चिन्ताओं से व्यग्र हैं, वे सदैव डरे हुए रहते हैं। वे सदा अपनी सम्पत्ति, शरीर तथा मित्रों की रक्षा करना चाहते हैं, वे शोक तथा अवैध इच्छाओं एवं साज-सामग्री से परिपूर्ण हैं और वे 'मैं' तथा 'मेरे' जैसे नाशवान् अवधारणाओं पर अपने कार्यकलापों को निर्भर करते हैं। जब तक वे आपके निरापद चरणकमलों की शरण ग्रहण नहीं कर लेते, वे ऐसी चिन्ताओं से भरे रहेंगे।" (भागवत ३.९.६)

ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये ।
अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

ये—जो; वै—निस्सन्देह; भगवता—भगवान् द्वारा; प्रोक्ता:—कहा हुआ; उपाया:—साधनों; हि—निस्सन्देह; आत्म-लब्धये—परमात्मा की अनुभूति करने के लिए; अञ्ज:—सरलता से; पुंसाम्—जीव द्वारा; अविदुषाम्—अल्प बुद्धि वाले; विद्धि—जानते हैं; भागवतान्—भागवतधर्म बनने के लिए; हि—निश्चय ही; तान्—इन।

अज्ञानी जीव भी परमेश्वर को सरलता से जान पाते हैं, यदि वे उन साधनों को अपनाएँ, जिन्हें भगवान् ने स्वयं निर्दिष्ट किया है। भगवान् ने जो विधि संस्तुत की है, वह भागवतधर्म अथवा भगवान् की भक्ति है।

तात्पर्य : ऐसे अनेक वैदिक शास्त्र हैं, यथा *मनु-संहिता,* जो मानव समाज की शान्त व्यवस्था के लिए आदर्श अधिदेश प्रस्तुत करते हैं। ऐसा वैदिक ज्ञान *वर्णाश्रम* प्रणाली पर आधारित है, जो मानव समाज को वैज्ञानिक ढंग से चार वृत्तिपरक विभागों तथा चार आध्यात्मिक विभागों में विभक्त करता है। किन्तु श्रील श्रीधर गोस्वामी के अनुसार जो ज्ञान भगवान् के प्रत्यक्ष सम्पर्क में लाता है, वह *अतिरहस्यम्* अर्थात् सर्वाधिक गुप्त ज्ञान कहलाता है (*अतिरहस्यत्वात् स्वमुखेनैव भगवताविदुषाम् अपि पुंसाम् अञ्ज: सुखेनैवात्म-लब्धये*)।

भागवतधर्म इतना रहस्यमय है कि यह साक्षात् भगवान् द्वारा व्यक्त किया गया है। भागवतधर्म का सार *भगवद्गीता* में दिया हुआ है, जिसमें कृष्ण स्वयं ही अर्जुन को उपदेश देते हैं। तो भी *श्रीमद्भागवत* के ग्यारहवें स्कन्ध में उद्धव को भगवान् जो उपदेश देंगे वे *भगवद्गीता* में अर्जुन को दिये गये उपदेशों से भी बढ़कर है। जैसाकि श्रील प्रभुपाद ने कहा है, "निस्सन्देह अर्जुन को युद्ध के लिए प्रोत्साहित करने हेतु ही भगवान् ने कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में *भगवद्गीता* का प्रवचन किया था। फिर भी *भगवद्गीता* के दिव्य ज्ञान को पूरा करने के लिए उन्होंने उद्धव को उपदेश दिया। भगवान् ने चाहा था कि उद्धव उनके ध्येय को पूरा करें और उन्होंने जिस ज्ञान को *भगवद्गीता* में नहीं कहा था, उसका विस्तार करें।" (भागवत ३.४.३२ तात्पर्य) इसी प्रकार यह समझा जाता है कि यहाँ पर नव-योगेन्द्रों द्वारा, जो ज्ञान प्रस्तुत किया जायेगा, वह काल्पनिक नहीं है, अपितु भगवान् द्वारा मूलत: कहा गया, प्रामाणिक ज्ञान है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती के अनुसार सारे जीव जन्म-मृत्यु का चक्कर लगाते हुए भगवान् को बिल्कुल ही भूल जाते हैं। किन्तु जब वे अपने लाभ के लिए भगवान् द्वारा कही गई शुभ कथाओं को सुनते हैं और अपनी शाश्वत पहचान दिव्य आत्माओं के रूप में करते हैं, तो कृष्ण के नित्यदास रूप में अनुभूत उनका अनुभव *भागवतधर्म* का आधार बन जाता है। शुद्ध वैष्णव या ईश्वर के दास के रूप में

आत्मा के अनुभव में ईश्वर से भिन्न या ईश्वर के ही समान होने का भाव नहीं रहता, न ही कोई भौतिक इन्द्रियतृप्ति के लोक में रुचि रखता है। शुद्ध भक्त भगवान् के प्रति अपनी भक्ति का ही अनुभव करता है और अपने को परम आश्रय के भिन्नांश रूप में देखता है। शुद्ध भक्त अनुभव करता है कि वह अपने चरम आश्रय भगवान् के किसी निजी विस्तार से प्रेमाभक्ति की रज्जु से बँधा हुआ है। और ऐसी चेतना की पूर्णावस्था में भक्त परब्रह्म के सर्वव्यापी विविध रूपों को देख सकता है।

यानास्थाय नरो राजन्न प्रमाद्येत कर्हिचित् ।
धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

यान्—जिन (साधनों) को; आस्थाय—स्वीकार करके; नरः—मनुष्य; राजन्—हे राजा; न प्रमाद्येत—मोहित नहीं होता; कर्हिचित्—कभी भी; धावन्—दौड़ते हुए; निमील्य—बन्द करके; वा—अथवा; नेत्रे—उसकी आँखों में; न स्खलेत्—च्युत नहीं होगा; न पतेत्—पतित नहीं होगा; इह—इस मार्ग पर।

हे राजन्, जो व्यक्ति भगवान् के प्रति इस भक्तियोग को स्वीकार कर लेता है, वह इस संसार में अपने मार्ग पर कभी कोई बड़ी भूल नहीं करेगा। यदि वह अपनी आँखें बन्द करके दौड़ लगा लो, तो भी वह न तो लड़खड़ाएगा न पतित होगा।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार पिछले श्लोक में प्रयुक्त *अञ्जः* शब्द की व्याख्या इस श्लोक में हुई है। वे कहते हैं—*अञ्जःपदेनोक्तं सुकरत्वं विवृणोति*—अञ्जः शब्द से भक्तियोग सम्पन्न करने की सरलता स्थापित की गई है और इस श्लोक में इसका विस्तार किया जायेगा। *भगवद्गीता* (९.२) में स्वयं भगवान् कहते हैं *प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्* भगवान् की भक्ति करने की विधि नित्य है और बड़े ही प्रमुदित भाव से तथा स्वाभाविक ढंग से सम्पन्न की जाती है। इस पर श्रील प्रभुपाद की टीका है, "भक्तियोग अत्यन्त सुखकर होता है। ऐसा क्यों? क्योंकि भक्ति में *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः* रहता है, जिससे मनुष्य भगवान् की महिमा के कीर्तन को सुन सकता है या प्रामाणिक आचार्यों द्वारा दिये गये दिव्य ज्ञान के दार्शनिक भाषणों में उपस्थित रह सकता है। मनुष्य केवल बैठे रहकर सीख सकता है, ईश्वर को अर्पित किये हुए भोजन के बचे हुए भाग को—उत्तम स्वादिष्ट पकवान—खा सकता है। प्रत्येक दशा में भक्ति सुखमय है। मनुष्य गरीबी की हालत में भी भक्ति कर सकता है। भगवान् कहते हैं *पत्रं पुष्पं फलं तोयं* वे भक्त से किसी प्रकार की भी भेंट लेने को तैयार रहते हैं, चाहे वह पत्रा हो, पुष्प हो, फल हो या थोड़ा-सा जल हो, जो संसार के हर कोने में उपलब्ध है। किसी

व्यक्ति द्वारा उसकी सामाजिक स्थिति की परवाह किये बिना, जो भी अर्पित किया जाये वह भगवान् को स्वीकार है, यदि उसे प्रेमपूर्वक चढ़ाया जाय। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। भगवान् के चरणकमलों पर चढ़े तुलसीदल मात्र खाकर सनत्कुमार जैसे मुनि महान् भक्त बन गये। अत: भक्तियोग अति उत्तम है और इसे प्रसन्न मुद्रा में सम्पन्न किया जा सकता है। भगवान् को तो वह प्रेम ही प्रिय है, जिसमें उन्हें वस्तुएँ भेंट की जाती हैं।''

यहाँ जिस महत्त्वपूर्ण बात को समझना है, वह यह है कि जब जीव भगवान् की शरण ग्रहण कर लेता है, तो वह भगवान् से कहता है, ''हे प्रभु! यद्यपि मैं अत्यन्त पापी तथा अयोग्य हूँ और इतने काल तक आपको भूलने का प्रयत्न करता रहा हूँ, किन्तु अब मैं आपके चरणकमलों में शरण ले रहा हूँ। आज से मैं आपका हूँ। मेरे पास जो भी है—मेरा शरीर, मन, शब्द, परिवार, धन वह सब मैं आपके चरणकमलों पर अर्पित कर रहा हूँ। कृपया मेरे साथ जैसा चाहें करें।'' भगवान् कृष्ण ने *भगवद्गीता* में बारम्बार आश्वासन दिया है कि वे ऐसे शरणागत जीव की रक्षा करेंगे और उसे भगवद्धाम वापस लाकर मुक्त करेंगे और अपने धाम में नित्य जीवन प्रदान करेंगे। इस तरह भगवान् की शरण में जाने की योग्यता इतनी महान् और आध्यात्मिक रूप से शक्तिशाली है कि यदि शरणागत जीव पवित्र जीवन के अन्य पक्षों में न्यून होता है, तो उसके उच्च पद की रक्षा स्वयं भगवान् करते हैं। किन्तु अन्य विधियों में, यथा *योग* में, मनुष्य अपने संकल्प तथा बुद्धि पर निर्भर रहता है और भगवान् की शरण नहीं खोजता तो वह किसी भी क्षण पतित हो सकता है, क्योंकि वह अपनी सीमित थोथी शक्ति द्वारा रक्षित होता है। इसलिए जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१०.२.३२) में कहा गया है—*आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः/पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदंघ्रयः* यदि कोई व्यक्ति भगवान् के चरणकमलों की शरण त्यागकर अपने संकल्प के द्वारा योग-विधि में अग्रसर होने का प्रयास करता है या फिर अपनी चिन्तन शक्ति से ज्ञान में उन्नति करना चाहता है, तो अन्ततोगत्वा वह मध्यवर्ती भौतिक स्तर पर पुन: आ गिरेगा और उसकी अपनी च्युत शक्ति के अतिरिक्त कोई सुरक्षा नहीं होगी। इसीलिए वैष्णव आचार्यों ने इस श्लोक की टीका करते हुए कई प्रकार से भक्तियोग की श्रेष्ठता प्रदर्शित की है। इस सन्दर्भ में, श्रीधर स्वामी कहते हैं *निमील्य नेत्रे धावन्नपि इह एषु भागवतधर्मेषु न स्खलेत्। निमीलनं नामाज्ञानं, यथाहुः—'श्रुति-स्मृति उभे नेत्रे विप्रानां परिकीर्तिते।एकेन विकलः काणो द्वाभ्याम् अन्धः प्रकीर्तितः' इति।* ''दोनों आँखें मूँदकर

दौड़ते हुए भी एक भक्त इस भागवतधर्म के पथ पर नहीं लड़खड़ायेगा। आँखें मूँदना द्योतक है (आदर्श वैदिक ग्रंथों से) अनभिज्ञता का। जैसाकि कहा गया है ''श्रुति तथा स्मृति शास्त्र तो ब्राह्मणों की दो आँखें हैं। इनमें से एक से रहित होने पर ब्राह्मण आधा अँधा (काना) है और दोनों से रहित होने पर पूरा अँधा माना जाता है।

भगवद्गीता (१०.१०-११) में भगवान् ने स्पष्ट कहा है कि यदि कोई भक्त वैदिक ज्ञान से विहीन या वैष्णव साहित्य से अनजान भी क्यों न हो, किन्तु यदि वह सचमुच ही भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगा हुआ है, तो उसके भीतर से स्वयं भगवान् उसे ज्ञान प्रदान करते हैं। इस सम्बन्ध में श्रील प्रभुपाद कहते हैं, ''जब चैतन्य महाप्रभु हरे कृष्ण कीर्तन का प्रचार करने के लिए वाराणसी में थे तो हजारों लोग उनके अनुयायी बन गये थे। उस समय वाराणसी के अत्यन्त प्रभावशाली तथा प्रकाण्ड पंडित प्रकाशानन्द ने चैतन्य महाप्रभु को भाववादी (आवेशवादी) कहकर उपहास किया। कभी कभी दार्शनिकगण भक्तों की आलोचना करते हैं, क्योंकि वे यह सोचते हैं कि अधिकांश भक्त अज्ञान के अंधकार में रहते हैं और दर्शन की दृष्टि से नवभाववादी होते हैं। किन्तु वास्तव में यह यथार्थ नहीं है। ऐसे अत्यन्त ज्ञानी विद्वान हैं, जिन्होंने भक्तिदर्शन प्रस्तुत किया है, किन्तु भले ही कोई भक्त उनके साहित्य का या अपने गुरु का लाभ न भी उठाता हो, यदि वह अपनी भक्ति में निष्ठा रखता है, तो साक्षात् कृष्ण उसके हृदय के भीतर से उसकी सहायता करते हैं। इसलिए कृष्णभावनामृत में रत निष्ठावानभक्त ज्ञान से रहित नहीं हो सकता। एकमात्र योग्यता यही है कि वह पूर्ण कृष्णभावनामृत में भक्ति करे।''

तो भी भगवान् द्वारा प्रदत्त यह सुविधा रागानुगा भक्ति के नाम पर अप्रामाणिक विचारों के औचित्य को सिद्ध नहीं करती। इस सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा है *भगवत्प्राप्त्यर्थं पृथङ्मार्गकरणं त्वतिदूषणावहमेव* यदि भगवान् को प्राप्त करने के लिए कोई भक्ति की अपनी विधि बना लेता है, तो इस मनोकल्पना से पूर्ण विनाश हो जायेगा। वे इसके आगे उद्धरण देते हैं—

श्रुतिस्मृतिपुराणादिपञ्चरात्रविधिं विना।

ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते॥

''यदि किसी की तथाकथित अनन्य हरि-भक्ति श्रुति, स्मृति, पुराणों तथा पञ्चरात्र के विधि-विधानों को समाहित नहीं करती, तो यह समाज में उत्पात के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।'' दूसरे शब्दों में भले ही कोई वैदिक वाङ्मय में पारंगत न हो, किन्तु यदि वह भगवद्भक्ति में लगा रहता है, तो उसे शुद्ध भक्त मानना चाहिए। यही नहीं, ऐसी प्रेमाभक्ति शास्त्रों के आदेशों का किसी तरह से विरोध नहीं कर सकती।

प्राकृतसहजिये वैष्णव धर्म के आदर्श नियमों की परवाह न करके अवैध निम्न कार्यों में लगे रहते हैं और रागानुगा भक्ति के नाम पर राधा-कृष्ण का वेश बनाते हैं। उनका कहना है कि चूँकि स्वयं भगवान् ने ऐसी रागानुगा भक्ति प्रकट की थी, इसलिए उन्हें आदर्श शास्त्रों का सहारा लेने की आवश्यकता नहीं है। इसी तरह विश्व-भर में ऐसे छद्म धर्मधुरीण हैं, जो अपनी विधियाँ गढ़ कर यह कहते हैं कि भगवान् उन्हें उनके हृदयों में से ज्ञान प्रदान कर रहे हैं। इसलिए यहाँ यह समझना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होगा कि हृदय के भीतर राग का प्राकट्य भगवान् की भक्ति की शाश्वत विधि को बदलने के लिए नहीं होता, अपितु निष्ठावान् भक्त के लिए पूरक सहायता प्रदान करने के लिए है, जो शास्त्रों से अनजान हो। दूसरे शब्दों में, शास्त्रों द्वारा भगवद्भक्ति की शाश्वत विधि का वर्णन किया जाता है। चूँकि भगवान् तथा जीव दोनों ही शाश्वत हैं, अतएव उनके प्रेम-सम्बन्ध भी शाश्वत हैं। न तो भगवान् अपना स्वभाव बदलते हैं, न ही जीव। अतएव भगवान् की प्रेमाभक्ति की अनिवार्य विधि को बदलने की आवश्यकता नहीं है। भगवान् द्वारा विशेष प्राकट्य अन्य साधनों द्वारा शास्त्रीय ज्ञान प्रदान करना है, शास्त्र ज्ञान का खण्डन नहीं।

दूसरी ओर, श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा है कि यदि कोई भक्त भक्तियोग के सारे मूल सिद्धान्तों का पालन करता है और भक्ति में अग्रसर होता है, तो ऐसे वैष्णव की गौण विधियों की उपेक्षा करने के लिए आलोचना नहीं की जानी चाहिए। उदाहरणार्थ, श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद ने कृष्णभावनामृत का अभ्यास करने के लिए पाश्चात्य देशों में सैकड़ों आध्यात्मिक समुदायों की स्थापना की। इन समुदायों के भक्तगण अवैध यौन, द्यूतक्रीड़ा, नशा तथा मांसाहार का परित्याग करके निरन्तर कृष्णभक्ति में लगे रहते हैं। श्रील प्रभुपाद के ऐसे अनुयायी अद्भुत आध्यात्मिक प्रगति करने तथा हजारों लोगों को भक्तियोग के प्रति उन्मुख करने में समर्थ हैं। वस्तुतः इस्कॉन के सारे श्रद्धालु सदस्य

आदर्श विधियों का पालन करने से भौतिक दूषण से मुक्त रहते हैं और भगवद्धाम जाने की दिशा में स्पष्ट प्रगति करते हैं। इस्कॉन के ऐसे सदस्य वर्णाश्रम धर्म प्रणाली के सारे विधानों को संभवत: पूरा नहीं कर सकते। तथ्य तो यह है कि अनेक पाश्चात्य भक्त संस्कृत शब्दों का उच्चारण भी नहीं कर सकते और मंत्र का जाप करने तथा आहुतियाँ देने से सम्बद्ध विस्तृत यज्ञों को सम्पन्न करने में कुशल नहीं हैं। किन्तु चूँकि वे भौतिक इन्द्रियतृप्ति का परित्याग करके भक्तियोग के अनिवार्य नियमों का पालन करते हैं और कृष्ण की प्रेमाभक्ति में निरन्तर लगे रहते हैं, अतएव इस जीवन में तथा अगले जीवन में उनकी स्थिति सुनिश्चित है।

हमने ऐसे अनेक शिष्ट संस्कृत पंडितों तथा वैदिक यज्ञों में पटु विद्वानों को देखा है, जो मानव-जीवन के मूल सिद्धान्तों का भी मुश्किल से पालन करते हैं—ये हैं अवैध यौन, मांसाहार, द्यूतक्रीड़ा तथा नशा इन सबका निषेध। ऐसे प्रखर विद्वान तथा कर्मकाण्डी सामान्यतया भौतिकतावादी जीवन के प्रति अनुरक्त देखे जाते हैं और उन्हें मानसिक चिन्तन का शौक रहता है। यद्यपि भगवान् ने *भगवद्गीता* में सभी कालों के लिए पूर्ण ज्ञान प्रदान किया है, किन्तु तथाकथित पंडित अपने को भगवान् से बढ़कर बुद्धिमान मानते हैं और वैदिक वाङ्मय के अर्थ पर निजी ढंग से चिन्तन करते हैं। ऐसा चिन्तन पूर्ण आध्यात्मिक जीवन से नीचे गिराने वाला है, तो फिर सकाम कर्मों के विषय में क्या कहा जाय जो हर तरह से मायामय हैं। दिव्य भक्त सकाम कर्म तथा मानसिक चिन्तन के दूषण से दूर रहने में समर्थ चले आ रहे हैं और यही इस श्लोक का मूल तात्पर्य है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने आगाह किया है कि *यान् आस्थाय* शब्द यह सूचित करते हैं कि वैष्णव का उच्च पद उसे कभी भी नहीं दिया जा सकता, जो भक्तियोग के मूलभूत विधानों का पालन नहीं करता। न ही यह पद उसे दिया जा सकता है, जो मनमाने चिंतन से या सकाम कर्म से कभी तो कृष्ण की सेवा करता है और कभी माया की। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर अन्त में यह कहते हैं, ''भागवतधर्म के अतिरिक्त सारे धर्मों में बद्धजीव की योग्यता पर विचार किया जाता है। किन्तु भगवान् की शरण में आया जीव कभी भी त्रुटि नहीं करता, भले ही वह अन्य पक्षों में अयोग्य क्यों न हो। उसके पैर कभी नहीं लड़खड़ाते और वह कभी नहीं गिरता। अपनी अचल पूजा के बल पर वह शुभ स्थान में वास करता है, भले ही वह संसार में मनमाने ढंग से विचरण क्यों न करता हो।

भागवतधर्म की-सी अद्वितीय शक्ति विश्व के अन्य किसी धर्म में नहीं देखी जाती। भागवतधर्म की शरण में आये व्यक्ति तथा अन्य किसी धर्मावलम्बी में कोई तुलना नहीं है।''

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात् ।
करोति यद्यत्सकलं परस्मै
नारायणायेति समर्पयेत्तत् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

कायेन—शरीर से; वाचा—वाणी से; मनसा—मन से; इन्द्रियैः—इन्द्रियों से; वा—अथवा; बुद्ध्या—बुद्धि से; आत्मना—शुद्ध चेतना से; वा—अथवा; अनुसृत—अनुसरण किया हुआ; स्वभावात्—किसी के स्वभाव के अनुसार; करोति—करता है; यत् यत्—जो जो; सकलम्—सभी; परस्मै—ब्रह्म को; नारायणाय इति—यह सोचते हुए कि यह नारायण के लिए है; समर्पयेत्—समर्पण करना चाहिए; तत्—वह।

बद्ध जीवन में अर्जित विशेष स्वभाव के अनुसार मनुष्य अपने शरीर, वचन, मन, इन्द्रिय, बुद्धि या शुद्ध चेतना से, जो कुछ करता है उसे यह सोचते हुए परमात्मा को अर्पित करना चाहिए कि यह भगवान् नारायण की प्रसन्नता के लिए है।

तात्पर्य : श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इस सम्बन्ध में यह टीका की है कि जो व्यक्ति अपने शरीर के सारे ऐन्द्रिय कार्यों, मन, वचन, बुद्धि, अहंकार तथा चेतना को भगवान् की सेवा में लगाता है, उसे उस स्तर पर नहीं माना जा सकता जिस पर अपनी निजी इन्द्रियतृप्ति के लिए कर्म करने वाला *कर्मी* होता है। बाह्य रूप से बद्धजीव होते हुए भी जो व्यक्ति अपने सारे कार्य भगवान् को अर्पित कर देता है, उसे भौतिकतावादी कार्यों के फलों से उत्पन्न असंख्य कष्ट छू तक नहीं पाते।

बद्धजीव की भगवान् तथा उनकी सर्वशक्तिमान सत्ता से शत्रुता होने के कारण वह भगवान् के आदेश के विरुद्ध कर्म करता है। तो भी स्वरूपसिद्ध जीव भगवान् के मिशन को पूरा करने के लिए इस संसार में सभी प्रकार के कार्य करते रहते हैं। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार जो कर्मीजन अधिकाधिक पवित्र होते हैं, वे भगवान् के चरणकमलों पर अपने कर्मों के फलों को अर्पित करने का प्रयास करके स्वरूपसिद्ध जीवों के उदाहरण का अनुसरण करते हैं। यद्यपि इसे *कर्ममिश्र* भक्ति माना जाता है, किन्तु ऐसी मिश्रित भक्ति क्रमशः शुद्ध भक्ति में बदल जाती है। चूँकि पवित्र सकाम कर्मी क्रमशः अपने को अपने परिश्रम से अर्जित पुरस्कार के भोगने की बेहूदी विचारधारा से अपने को विलग कर लेते हैं, अतएव शुद्ध भक्ति से उन्हें भरपूर सौभाग्य प्राप्त होता है।

श्रील श्रीधर स्वामी ने टीका की है *आत्मना चित्तेनाहंकारेण वा अनुसृतो य: स्वभावस्तस्मात्* मनुष्य देहात्म बुद्धि में क्यों न हो, उसे अपने कर्म का फल भगवान् को अर्पित करना चाहिए। भगवान् के विषय में पुराणपंथी भौतिकतावादी विचार रखने वाले व्यक्ति भगवान् को मन्दिर या गिरजाघर में ही उपस्थित मानते हैं। वे पूजास्थल में भगवान् को कुछ भेंट चढ़ाते हैं, किन्तु अपने सामान्य कार्यों में वे स्वामित्व का दावा करते हैं और यह नहीं सोचते कि ईश्वर सर्वत्र तथा हर एक के भीतर वर्तमान हैं। हमें ऐसे अनेक धार्मिक पुरुषों का व्यावहारिक अनुभव है, जो अपने बच्चों को भगवान् का दास बनते देख अपमानित अनुभव करते हैं। वे सोचते हैं कि ''मैं जो भी तुच्छ भेंट भगवान् पर चढ़ाऊँ उससे उन्हें प्रसन्न होना चाहिए, किन्तु मेरा परिवार तथा मेरे कामकाज मेरे हैं और वे मेरे अधीन हैं।'' भगवान् या उनके स्वामित्व से किसी वस्तु के पृथक् होने की अनुभूति *माया* है। श्रील श्रीधर स्वामी ने उद्धरण दिया है *न केवलं विधित: कृतम् एवेति नियम:। स्वभावानुसारि लौकिकमपि* भगवान् की सेवा करने का विधान केवल संस्तुत धार्मिक पंथों और अनुष्ठानों को ही नहीं द्योतित करता, प्रत्युत इस संसार में मनुष्य अपनी निजी प्रकृति के अनुसार जितने भी कर्म करता है, उन्हें भगवान् को अर्पित किया जाना चाहिए।

इस श्लोक का यह अंश *करोति यद् यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत् तत्* अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ऐसा ही श्लोक *भगवद्गीता* (९.२७) में मिलता है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

''हे कुन्ती-पुत्र! तुम जो भी करते हो, जितना भी खाते हो, जो भी अर्पित करते हो और दान में देते हो तथा जितनी भी तपस्या करते हो उन सबों को मुझे अर्पण करते हुए किया जाना चाहिए।'' यह आपत्ति की जा सकती है कि चूँकि हमारे सामान्य कार्य भौतिक शरीर तथा भौतिक मन द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं, आत्मा द्वारा नहीं, तो फिर ऐसे कार्यों को किस तरह भगवान् को अर्पित किया जा सकता है, जो भौतिक जगत से पूरी तरह परे हैं? ऐसे कार्यों को किस तरह आध्यात्मिक माना जा सकता है? इसके उत्तर में *विष्णु पुराण* (३.८.८) में कहा गया है—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण पर: पुमान्।

विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत् तत्तोषकारणम्॥

जो व्यक्ति भगवान् विष्णु को प्रसन्न करना चाहता है उसे *वर्णाश्रम धर्म* प्रणाली स्वीकार करनी चाहिए और अपने नियत कर्मों को सम्पन्न करके भगवान् की पूजा करनी चाहिए। *भगवद्‌गीता* (४.१३) में भगवान् वर्णाश्रम धर्म प्रणाली स्थापित करने का श्रेय स्वयं को देते हैं *चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।* इसलिए यदि कोई व्यक्ति वर्णाश्रम धर्म के अन्तर्गत अपना कर्म भगवान् को अर्पित करता है, तो ऐसे कर्म की गणना भक्ति में की जाती है। अपने *स्वभाव* के अनुसार मनुष्य बुद्धिजीवी या पुरोहित, शासक या सैनिक, किसान या व्यापारी, अथवा श्रमिक या कलाकार के रूप में कर्म कर सकता है और ऐसा कर्म करते समय हर मनुष्य को चाहिए कि भगवान् का ध्यान *यत् सकलं परस्मै नारायणाय* सोचते हुए करे—अर्थात् मैं भगवान् के लिए कर्म कर रहा हूँ। मेरे कर्म से जो भी फल प्राप्त होगा उसका कम से कम मैं अपने निजी निर्वाह के लिए रखूँगा और शेष को नारायण के महिमा-गायन में अर्पित कर दूँगा।

श्रील जीव गोस्वामी ने इंगित किया है *कामिनां तु सर्वथैव न दुष्कर्मार्पणाम्*—मनुष्य भगवान् को *दुष्कर्म* अर्थात् पापपूर्ण दुष्ट कर्म अर्पित नहीं कर सकता। पापमय जीवन के चार स्तम्भ हैं—अवैध यौन, मांसाहार, द्यूतक्रीड़ा तथा नशा। ऐसे कर्म कभी भी भगवान् को भेंट के रूप में ग्राह्य नहीं होते। उदाहरणार्थ, यद्यपि मुक्त समाज में हर व्यक्ति को अपना पेशा चुनने की छूट दी जाती है, किन्तु प्रजातंत्र सरकार भी अपने नागरिक को चोर या हत्यारे का पेशा चुनने नहीं देगी। उसी तरह ईश्वर के नियमानुसार मनुष्य को वर्णाश्रम पद्धति में अपने स्वभाव के अनुसार कर्म करने के लिए आमंत्रित किया जाता है, किन्तु उसे ईश्वर के नियमों का उल्लंघन करते हुए पापपूर्ण कर्मों का अपराधी जीवन ग्रहण करने से मना किया जाता है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इसका सुन्दर विवरण प्रस्तुत किया है कि भगवान् को किस तरह अपने सामान्य कर्म अर्पित किये जाँय। वे कहते हैं कि सामान्य इन्द्रिय भोक्ता प्रातःकाल शौच जाने, अपना मुख साफ करने, दाँत की सफाई करने, नहाने, मित्रों तथा परिवार वालों से मिलने और उनसे दिन के कार्यों के बारे में विचार-विमर्श करने से अपना कार्य शुरू करता है। इस तरह दिन में मनुष्य अनेक कार्य करता है और इन्द्रिय भोक्ता ये सारे कार्य अपने निजी भोग के लिए करता है। दूसरी ओर *कर्मी* वेदों के कर्मकाण्ड खण्ड के आदेशानुसार उन्हीं कार्यों को देवताओं तथा अपने पूर्वजों की

प्रसन्नता के लिए करता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार भगवान् नारायण के भक्त को भी इसी तरह अपने सारे कार्य भगवान् की प्रसन्नता के लिए करना चाहिए। इस तरह पूरे दिन में हम जो कुछ भी करते हैं वह *भक्त्यंग* अर्थात् हमारी कृष्ण-भक्ति का पूरक पक्ष बन जायेगा।

यहाँ यह समझ लेना होगा कि जब तक मनुष्य अपनी पहचान कृष्ण के भिन्नांश रूप में न करके वर्णाश्रम-धर्म प्रणाली के रूप में करता है तब तक वह *अहंकार* के ही धरातल पर रहता है, क्योंकि वर्णाश्रम प्रणाली की रचना जीव द्वारा अपने भौतिक शरीर के माध्यम से अर्जित प्रकृति के गुणों के अनुसार की जाती है। किन्तु आचार्यों ने इस श्लोक की टीका करते हुए इस बात पर बल दिया है कि ऐसे अहंकार को भी, जिससे मनुष्य अपने को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, संन्यासी, गृहस्थ इत्यादि के रूप में पहचानता है, भगवान् को अर्पित करना चाहिए।

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार जब कोई व्यक्ति भगवान् के विषय में श्रवण तथा कीर्तन करने में अत्यन्त अनुरक्त होने लगता है और केवल अपने कर्म के फल भगवान् को अर्पित करने में नहीं, तो उसे *स्वरूपसिद्धा भक्ति* की अवस्था प्राप्त होती है अर्थात् वह अवस्था जिसमें भक्ति दृष्टिगोचर बन जाती है। उदाहरणार्थ, कोई भी अच्छा नागरिक सरकार को कर चुकाता है, किन्तु यह आवश्यक नहीं कि सरकार या उसके नेताओं से वह प्रेम करता हो। इसी प्रकार एक पवित्र जीव यह समझ सकता है कि वह ईश्वर के नियमों के अधीन कर्म कर रहा है, इसलिए वैदिक या अन्य शास्त्रीय आदेशों के अनुसार वह अपनी सम्पत्ति का एक अंश भगवान् को धार्मिक उत्सवों के लिए दे देता है। किन्तु जब ऐसा पवित्र व्यक्ति वास्तव में भगवान् के गुणों का कीर्तन करने और उन्हें सुनने में अनुरक्त हो जाता है और जब प्रेम दृश्य होने लगता है, तो उसे जीवन की परिपक्वावस्था प्राप्त करते हुए माना जाता है। इस स्न्दर्भ में श्रील जीव गोस्वामी ने अनेक श्लोक उद्धृत किये हैं, जो भगवत्प्रेम के विकास को सुन्दर ढंग से दिखलाने वाले हैं। *अनेन दुर्वासनादु:खदर्शनेन स करुणामय: करुणां करोतु*—पापपूर्ण इच्छाओं से उत्पन्न दुख प्रदर्शित करके कृपालु भगवान् मुझ पर दया दिखायें। *या प्रीतिरविवेकानां विसयेष्वनपायिनी। त्वामनुस्मरत: सा मे हृदयान्नापसर्पतु*—अज्ञानी व्यक्तियों को इन्द्रियतृप्ति के पदार्थों में अटूट स्नेह होता है। इसी प्रकार मैं आपका सदैव स्मरण करूँ जिससे वही अनुरक्ति, जो आपके साथ की जाती है, कभी मेरे हृदय को न छोड़े। (विष्णु पुराण १.२०.१९) *युवतीनां यथा यूनि यूनां च युवतौ यथा। मनोऽभिरमते*

तद्वन्मनो मे रमतां त्वयि—जिस तरह युवतियों का मन किसी युवक के बारे में सोचने में आनन्दित होता है और युवकों का मन किसी युवती के बारे में सोचने में रमता है, उसी तरह मेरा मन आपमें रमे। *मम सुकर्मणि दुष्कर्मणि च यद् रागसामान्यम्। तद् सर्वतोभावेन भगवद्विषयम् एव भवतु*—पुण्य या पापों के लिए मुझमें जो भी अनुरक्ति हो वह अनुरक्ति पूर्णरूपेण आपमें लगे।

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्या-
दीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः ।
तन्माययातो बुध आभजेत्तं
भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा ॥ ३७॥

शब्दार्थ

भयम्—भय; द्वितीय—भगवान् के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु में; अभिनिवेशतः—लीन रहने से; स्यात्—उत्पन्न होगी; ईशात्—भगवान् से; अपेतस्य—जिसने निकाल दिया उसके लिए; विपर्ययः—गलत पहचान; अस्मृतिः—विस्मरणशीलता; तत्—उस भगवान् की; मायया—माया से; अतः—इसलिए; बुधः—बुद्धिमान व्यक्ति; आभजेत्—पूरी तरह पूजा करे; तम्—उसको; भक्त्या—भक्ति के सहित; एकया—अनन्य; ईशम्—भगवान् को; गुरु-देवता-आत्मा—जो अपने गुरु को अपना स्वामी तथा आत्मा तक मानता है।

जब जीव भगवान् की बहिरंगा माया शक्ति में लीन होने के कारण भौतिक शरीर के रूप में गलत से अपनी पहचान करता है, तब भय उत्पन्न होता है। इस प्रकार जीव जब भगवान् से मुख मोड़ लेता है, तो वह भगवान् के दास रूप में अपनी स्वाभाविक स्थिति को भी भूल जाता है। यह मोहने वाली भयपूर्ण दशा माया द्वारा प्रभावित होती है। इसलिए बुद्धिमान पुरुष को प्रामाणिक गुरु के निर्देशन में भगवान् की अनन्य भक्ति में लगना चाहिए। और गुरु को ही अपना आराध्यदेव तथा अपना प्राणधन स्वीकार करना चाहिए।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार यह आपत्ति की जा सकती है कि चूँकि भय अज्ञानजन्य होता है, अतएव इसे ज्ञान द्वारा भगाया जा सकता है और भगवान् की पूजा करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। जीव मिथ्या ही अपनी पहचान अपने भौतिक शरीर, परिवार, समाज इत्यादि के रूप में करता है। उसे केवल इसी मिथ्या पहचान का परित्याग करना होता है। तब माया क्या कर सकेगी?

इस तर्क के प्रत्युत्तर में श्रील श्रीधर स्वामी ने *भगवद्गीता* का निम्नलिखित श्लोक (७.१४) उद्धृत किया है—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

''तीन गुणों वाली मेरी इस माया को पार कर पाना मुश्किल है। किन्तु जिन्होंने मेरी शरण ग्रहण कर ली है वे सरलता से इसके उस पार जा सकते हैं।'' जीव या *जीवतत्त्व* भगवान् की शक्तियों में से एक है, किन्तु जीव की स्वाभाविक स्थिति *तटस्थ* अर्थात् सीमांत है। सूक्ष्म होने से हर जीव परम पुरुष कृष्ण पर निरन्तर आश्रित रहता है। इसकी पुष्टि वैदिक वाङ्मय में इस प्रकार हुई है—*नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां। एको बहूनां यो विदधाति कामान्*—समस्त चेतनायुक्त प्राणियों में एक परम पुरुष है, जो अन्य असंख्य जीवों की आवश्यकताओं की पूर्ति कर रहा है। (कठ उपनिषद् २.१.१२) कृष्णदास कविराज ने लिखा है *एकले ईश्वर कृष्ण, आर सब भृत्य*—कृष्ण ही एकमात्र स्वतंत्र नियन्ता है, अन्य सारे जीव उन पर आश्रित हैं। (चैतन्य-चरितामृत आदि ५.१४२) जिस तरह अँगुली शरीर का अंश है, अतएव उसे शारीरिक सेवा में सदैव लगे रहना चाहिए। उसी तरह कृष्ण के भिन्नांश (*ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:*) होने के कारण भगवान् की अनन्य शुद्ध सेवा में लगे रहना, हमारा नित्य कर्तव्य (*सनातनधर्म*) है।

भगवान् की सेवा करते समय हमें भगवान् की जो शक्ति प्रकाश देती है, वह *चित्शक्ति* कहलाती है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने टीका की है कि जब जीव में स्वतंत्रता का भाव उत्पन्न होता है, तो वह भौतिक जगत में आने के लिए बाध्य हो जाता है, जहाँ वह अनेक प्रकार के क्षुद्र तथा अवांछित आचरणों में भाग लेता है जिनसे उसके लिए भयावह स्थिति उत्पन्न हो जाती है। *बहिरंगा शक्ति* चित्शक्ति को पूरी तरह आच्छादित कर लेती है और जीव को उसके स्थूल पापमय भोग के लिए एक के बाद एक शरीर प्रदान करती रहती है। इस तरह जो जीव कृष्ण से अपने प्रेममय सम्बन्ध को त्याग देता है, वह दण्डस्वरूप अपने वास्तविक आश्रय भगवान् के नित्य आनन्दमय रूप को देखने की सारी शक्ति खो बैठता है। इसके बदले वह अनेक क्षणभंगुर मायाजाल वाले रूपों में अनुरक्त होता है यथा अपने शरीर, अपने परिवार के सदस्यों तथा मित्रों के शरीर, अपने राष्ट्र, अपने शहर, उसकी इमारतों तथा कारों और असंख्य प्रकार के भौतिक अल्पकालिक दृश्यों आदि में। ऐसी घोर अज्ञानता की स्थिति में अपने मूल स्वरूप में वापस लौट जाने का विचार भी उसके मन में नहीं उठता।

ईश्वर के नियमों के अनुसार भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों में निरन्तर संघर्ष चलता है, जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है। *भागवत* में यही संघर्ष कई स्थानों पर *गुण-व्यतिकरम्* के रूप में वर्णित हुआ है। जब जीव भौतिक गुणों की क्रिया-प्रतिक्रिया से मोहग्रस्त हो जाता है, तो उसमें सापेक्षता का भाव उदय होता है और वह यह कल्पना करने लगता है कि ईश्वर तथा ईश्वर-पूजा प्रकृति के गुणों की विरोधी क्रियाओं का प्रतिफल है। मानव-वैज्ञानिक, समाज-वैज्ञानिक या मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के नाम पर जीव भौतिकतावादी अज्ञान के अंधकार में गहरे से गहरा गिरता जाता है और वह अपने को संसारी पवित्रता, आर्थिक विकास, इन्द्रियतृप्ति, या चिन्तन को समर्पित कर देता है, जिसमें वह परम को भिन्नता और व्यक्तित्व से रहित समझता है और इसे वह प्रकृति के गुणों की क्रिया-प्रक्रिया का प्रतिफल मान लेता है।

भगवान् की माया *दुरत्यया* है अर्थात् कृष्ण-कृपा के बिना इससे बच पाना असम्भव है (*मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते*)। यहाँ यह उदाहरण दिया जा सकता है कि जब सूर्य बादलों से ढक जाता है, तो कोई भी मानव-निर्मित यंत्र बादलों को आकाश से हटा नहीं सकता, किन्तु बादलों को उत्पन्न करने वाला सूर्य बादलों के आवरण को तुरन्त जलाकर अपने को प्रकट कर सकता है। इसी प्रकार जब हम भगवान् की माया से प्रच्छन्न हो जाते हैं, तो हम अपनी पहचान अपने क्षणिक भौतिक शरीर से करते हैं, जिससे हम सदैव भयभीत तथा चिन्तित रहते हैं। किन्तु जब हम भगवान् की शरण ग्रहण कर लेते हैं, तो वे हमें इस माया से तुरन्त मुक्त कर सकते हैं। भौतिक जगत तो *पदं पदं यद् विपदाम्* है अर्थात् पग पग पर संकटपूर्ण है। जब जीव यह समझ लेता है कि वह भौतिक शरीर नहीं अपितु भगवान् का नित्य दास है, तो उसका भय जाता रहता है। जैसाकि श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं *अत्र भक्तै संसारबन्धान्न भेतव्यं स हि भक्तौ प्रवर्तमानस्य स्वत एवापयाति*—इस भागवतधर्म में भक्तों को भवबन्धन से डरने की आवश्वयकता नहीं है। जो व्यक्ति भक्ति में अपने को लगाता है, उसके लिए यह भय अपने आप हट जाता है।

यहाँ पर यह स्पष्ट करना महत्त्वपूर्ण है कि *भयम्* अर्थात् भय केवल *अहं ब्रह्मास्मि* जैसे शब्दों द्वारा व्यक्त निर्विशेष आत्म-साक्षात्कार द्वारा नहीं भगाया जा सकता। *श्रीमद्भागवत* (१.५.१२) में नारद मुनि व्यासदेव से कहते हैं *नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते*—केवल *नैष्कर्म्यम्* अर्थात् कर्म का त्याग

तथा जीवात्मबुद्धि की अस्वीकृति किसी की रक्षा नहीं कर सकता। जीव को आध्यात्मिक स्तर पर श्रेष्ठ आश्रय खोजना चाहिए, अन्यथा वह संसार की भयपूर्ण स्थिति में वापस लौट आयेगा। इसका कथन शास्त्र में हुआ है—*आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदंघ्रयः* (भागवत १०.२.३२)। भले ही कोई परम श्रम तथा प्रयास से ब्रह्म पद तक पहुँच ले (*क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्*) किन्तु यदि वह उपयुक्त आश्रय नहीं ढूँढ़ लेता, तो वह भौतिक धरातल पर पुनः लौट आयेगा, अतएव उसकी तथाकथित मुक्ति *विमुक्तमान* अर्थात् कल्पना द्वारा मुक्ति है।

जीव स्वभाव से आनन्द खोजी—*आनन्दमय*—है। हम इसीलिए कष्ट पा रहे हैं, क्योंकि हम भौतिक स्तर पर झूठे ही आनन्द की खोज कर रहे हैं। फलस्वरूप हम जगत की पीड़ामयी जटिलताओं में फँस जाते हैं। किन्तु यदि हम आनन्द खोजने की लालसा को एकदम छोड़ने का प्रयास करते हैं, तो हम उद्विग्न होकर भौतिक आनन्द की खोज के स्तर पर लौट आते हैं। यद्यपि निर्विशेष अनुभूति के ब्रह्म पद पर शाश्वत जगत है, किन्तु वहाँ *आनन्द* नहीं है। विविधता आनन्द की जननी है। वैकुण्ठ-लोक में वास्तविक आध्यात्मिक आनन्द है। वहाँ पर कृष्ण अपने आनन्दमय आध्यात्मिक रूप में अपने आनन्दमय पार्षदों से घिरे रहते हैं, जो कि आनन्द तथा ज्ञान से नित्य पूर्ण होते हैं। उन्हें भौतिक जगत से कोई सरोकार नहीं रहता। आध्यात्मिक लोकों में पशु-पक्षी तथा प्राकृतिक दृश्य तक पूर्णतया कृष्णभावनाभावित होते हैं और दिव्य आनन्द में मग्न रहते हैं। *यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम* (भगवद्गीता १५.६)। जो कृष्ण के आनन्दमय आध्यात्मिक लोक को जाता है, वह पूर्णतया सन्तुष्ट हो जाता है और फिर भौतिक धरातल पर वापस नहीं आता। इसीलिए विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा है—*किं चात्र भक्तै संसारबन्धान्न भेतव्यम्।* केवल भक्त ही भय से मुक्त हो पाता है।

इस सम्बन्ध में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने प्रामाणिक गुरु स्वीकार करने पर बल दिया है, क्योंकि वह *व्रजेन्द्रनन्दन प्रेष्ठ*—नंद महाराज के पुत्र कृष्ण का सर्वाधिक प्रिय सेवक होता है। प्रामाणिक गुरु अन्य जीवों से तनिक भी द्वेष नहीं रखता, अतएव वह भगवद्भक्ति के ज्ञान को मुक्त-हस्त भाव से वितरित करता है। जब भगवान् की सेवा से शत्रुता रखने वाले जीव किसी तरह इस ज्ञान को विनीत भाव से सुनते हैं, तो वे भगवान् की उस माया से मुक्त हो जाते हैं, जो उन्हें आच्छादित करके जीवन की विविध दुखमय योनियों में डालती है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार

गुरु की कृपा से, श्रद्धालु शिष्य क्रमशः उन भगवान् नारायण के दिव्य पद को समझता है, जिनकी सेवा लाखों लक्ष्मियाँ आश्चर्य तथा आदर के साथ करती रहती हैं। ज्यों ज्यों शिष्य का दिव्य ज्ञान बढ़ता जाता है त्यों त्यों वैकुण्ठपति का *परमैश्वर्य* भी गोविन्द या कृष्ण के सौन्दर्य के आगे फीका पड़ने लगता है। गोविन्द में कीर्तन करने तथा आनन्द प्रदान करने की अचिन्त्य शक्ति है और गुरु की कृपा से शिष्य क्रमशः गोविन्द से अपना आनन्दमय सम्बन्ध (*रस*) स्थापित कर लेता है। लक्ष्मीनारायण, सीताराम, रुक्मिणी-द्वारकाधीश तथा अन्त में साक्षात् कृष्ण की आनन्दमय लीलाओं को समझ लेने पर शुद्ध हुए जीव को अद्वितीय अवसर प्रदान किया जाता है कि वह कृष्ण-भक्ति में प्रत्यक्ष सम्मिलित हो, क्योंकि कृष्ण उसके एकमात्र लक्ष्य तथा आश्रय बन जाते हैं।

अविद्यमानोऽप्यवभाति हि द्वयो
ध्यातुर्धिया स्वप्नमनोरथौ यथा ।
तत्कर्मसङ्कल्पविकल्पकं मनो
बुधो निरुन्ध्यादभयं ततः स्यात् ॥ ३८॥

शब्दार्थ

अविद्यमानः—वास्तव में उपस्थित नहीं; अपि—यद्यपि; अवभाति—प्रकट होता है; हि—निस्सन्देह; द्वयः—द्वैत; ध्यातुः—अनुभव करने वाले व्यक्ति की; धिया—बुद्धि से; स्वप्न—सपना; मनः-रथौ—अथवा इच्छा का उत्पन्न होना; यथा—जिस तरह; तत्—इसलिए; कर्म—कर्मों का; सङ्कल्प-विकल्पकम्—संकल्प-विकल्प को; मनः—मन; बुधः—बुद्धिमान व्यक्ति; निरुन्ध्यात्—वश में लाना चाहिए; अभयम्—निर्भीकता; ततः—इस तरह से; स्यात्—हो सकता है।

यद्यपि भौतिक जगत का द्वैत अन्ततः विद्यमान नहीं रहता, किन्तु बद्धजीव अपनी बद्ध-बुद्धि के प्रभाववश इसे असली अनुभव करता है। कृष्ण से पृथक् जगत के काल्पनिक अनुभव की तुलना स्वप्न देखने तथा इच्छा करने से की जा सकती है। जब बद्धजीव रात में इच्छित या भयावनी वस्तु का सपना देखता है अथवा जब वह जो कुछ चाहता है या जिससे दूर रहना चाहता है उनका दिवास्वप्न देखता है, तो वह ऐसी वास्तविकता को जन्म देता है, जिसका अस्तित्व उसकी कल्पना से परे नहीं होता। मन की प्रवृत्ति इन्द्रियतृप्ति पर आधारित विविध कार्यों को स्वीकार करने तथा उन्हें बहिष्कृत करने की होती है। इसलिए बुद्धिमान व्यक्ति को मन पर नियंत्रण रखना चाहिए और वस्तुओं को कृष्ण से पृथक् देखने के भ्रम से इसे अलग रखना चाहिए। जब मन इस तरह वश में हो जायेगा, तो उसे वास्तविक निर्भीकता का अनुभव होगा।

तात्पर्य : यद्यपि बद्ध-मन माया द्वारा प्रदत्त इन्द्रियतृप्ति की वस्तुओं से मोहित हो जाता है, किन्तु यदि कोई व्यक्ति भगवान् की अनन्य भक्ति स्वीकार कर ले तो ऐसी भौतिक इन्द्रियतृप्ति क्रमशः दूर हो जाती है, क्योंकि यह बद्धजीव का मनोरथ मात्र होती है। श्रील श्रीधर स्वामी ने *अव्यभिचारिणी भक्ति* शब्दों के प्रयोग से इस बात पर बल दिया है कि मनुष्य भौतिक इन्द्रियतृप्ति के भ्रम को तब तक दूर नहीं कर सकता, जब तक वह भगवान् की शुद्ध भक्ति स्वीकार न कर ले। श्रील रूप गोस्वामी ने (भक्तिरसामृतसिन्धु १.१.११) कहा है—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।

आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

शुद्ध भक्ति को भौतिक इन्द्रियतृप्ति या मनोरथ के साथ मिश्रित नहीं किया जा सकता। सेवक को स्वामी की तुष्टि के लिए ही कर्म करना चाहिए। भगवान् कृष्ण ने इसी तरह *भगवद्गीता* में कहा है—*मामेकं शरणं व्रज।* मनुष्य को चाहिए कि वह केवल कृष्ण को सर्वत्र देखे और हर जीव के नित्य स्वामी भगवान् कृष्ण की प्रसन्नता के लिए ही कर्म करे।

श्रील मध्वाचार्य ने *हरिवंश* से अनेक श्लोक उद्धृत किये हैं, जो यह बतलाते हैं कि जीव अपने को अपना शरीर, घर, परिवार, मित्र इत्यादि मानने के भ्रम से तथा जन्म-मृत्यु के चक्र में फँसने से मायाजाल को सच्चाई मान लेता है। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार *श्रवणकीर्तनादिलक्षणमात्रत्वं यतो न व्याहन्येत*—यदि कोई व्यक्ति भौतिक भ्रम के द्वैत को वास्तव में दूर करना चाहता है, तो उसे भगवान् के गुणों के कीर्तन तथा श्रवण करने की विधि ग्रहण करनी चाहिए। श्रील चैतन्य महाप्रभु ने भी निम्नलिखित वैदिक सन्दर्भ प्रस्तुत किया है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

(*बृहन्नारदीय पुराण*)

वैदिक वाङ्मय के अनुसार इस कलियुग के जीवों में आध्यात्मिक ज्ञान समझने की शक्ति क्षीण हो चुकी है (*मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः*)। उनके मन सदैव विक्षुब्ध रहते हैं, वे आलसी होते हैं और अनेक नकली नेताओं द्वारा दिग्भ्रमित किये जाते हैं। *भागवत* में इन्हें ही *निःसत्त्वान्* (अधीर

तथा अपवित्र), *दुर्मेधान्* (मन्द बुद्धि वाले) तथा *ह्रसितायुष:* (अल्पजीवी) कहा है। इसलिए जो व्यक्ति भौतिक जीवन के अज्ञान को सच्चे अर्थों में जीतना चाहता है, उसे भगवन्नाम की कीर्तन तथा श्रवण-विधि के प्रति समर्पित हो जाना चाहिए। साथ ही भगवत्प्रदत्त *भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत* तथा *चैतन्य-चरितामृत* जैसे दिव्य ग्रंथों को पढ़ना तथा सुनाना चाहिए। यह जान लेना चाहिए कि जीव पूर्णतया आध्यात्मिक है और भौतिक शक्ति से कभी मिश्रित नहीं होता (*असंगो ह्ययंपुरुष:*)। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार—*तस्मिन् शुद्धेऽपि कल्प्यते*—यद्यपि जीव *शुद्ध* है—शुद्ध आत्मा है—तो भी वह अपने को भौतिक सृष्टि के रूप में सोचता है और इस तरह अपने को माया के बंधन में, जिसे *देहापत्य कलत्रादि* कहते हैं, फँसा लेता है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने भौतिक जीवन के अनुभव को बताने के लिए *मानसप्रत्यक्ष* शब्द का प्रयोग किया है। इसका अर्थ है "जिसका अनुभव केवल मन में ही किया जाय।" वास्तविक *प्रत्यक्ष* का वर्णन *भगवद्गीता* (९.२) में हुआ है—

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥

जब मनुष्य *भगवद्गीता* में स्वयं भगवान् द्वारा दिये गये उपदेशों को सुनता है, तो वह प्रत्यक्ष रूप से अपने नित्य स्वभाव का अनुभव कर सकता है (*प्रत्यक्षावगमम्*), क्योंकि *भगवद्गीता राजविद्या* और *राजगुह्यम्* है और ऐसे निष्कलुष आध्यात्मिक ज्ञान के सान्निध्य से ही प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है (*पवित्रमिदमुत्तमम्*)। अपने नित्य स्वभाव का अनुभव करके मनुष्य पूरी तरह धार्मिक (*धर्म्यम्*), आनन्दमय (*सुसुखम्*) तथा भगवद्भक्ति में निरन्तर रत (*कर्तुमव्ययम्*) रहता है।

इस सन्दर्भ में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ने यह श्रुति मंत्र उद्धृत किया है—*विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगम्*—जिन इन्द्रियों तथा प्राण-वायु को मनुष्य जीत लेता है, उन्हें ही मन फिर से खींच लेगा। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार इस श्लोक का अर्थ *समवहाय गुरोश्चरणम्*—अपने गुरु के चरणकमलों को त्यागने पर मनुष्य की पूर्व आध्यात्मिक उन्नति शून्य हो जाती है। पिछले श्लोक में इसे *गरुदेवतात्मा* शब्दों से सूचित किया जा चुका है। जब तक हम वैध

परम्परा में प्रामाणिक गुरु को अपना पूज्य देव तथा प्राण नहीं मानते, तब तक भौतिक जीवन के द्वैत को जीत पाने का प्रश्न ही नहीं उठता।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इस श्लोक की निम्नलिखित टीका की है ''मन का नियंत्रण भगवद्भक्ति करने का फल है। स्थिर भक्ति के प्रभाव से स्वीकृत तथा अस्वीकृत करने वाला मन कृष्ण से पृथक् इन्द्रिय-भोग की प्यास को रोक सकता है। कृष्णभावनामृत में कोई विरोध, क्षुद्रता या आनन्दहीनता नहीं है। दूसरे शब्दों में, यह कोई भौतिक तत्त्व नहीं, जो क्षणभंगुर होता है और निरन्तर दुख लाता है। कृष्ण को भुलाने पर बद्धजीव अपनी ही तथाकथित बुद्धि के दिग्भ्रम तथा विकृति से कष्ट पाता है। सारे जीव परम आश्रय कृष्ण के भिन्नांश हैं, किन्तु भगवान् कृष्ण की दिव्य लीलाओं के धाम से च्युत हो गये हैं। भगवान् को भूल जाने से वे पापमय जीवन बिताते हैं और घातक भौतिक पदार्थों की ओर ध्यान देते हैं, जिससे उन्हें निरन्तर भय बना रहता है। यदि कोई मन को दमित करना चाहे तो उसे कृष्ण-भक्ति में लग जाना चाहिए, क्योंकि मन सदैव मनोरथ के द्वैत में पड़ा रहता है।''

शृण्वन्सुभद्राणि रथाङ्गपाणे-
र्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके ।
गीतानि नामानि तदर्थकानि
गायन्विलज्जो विचरेदसङ्गः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

शृण्वन्—सुनते हुए; सु-भद्राणि—सर्वमंगलमय; रथ-अङ्ग-पाणेः—जिनके हाथ में रथ का पहिया है, उनके; जन्मानि—जन्मों को; कर्माणि—कार्यों को; च—तथा; यानि—जिन जिन; लोके—इस लोक में; गीतानि—गाये जाते हैं; नामानि—नामों को; तत्-अर्थकानि—इन जन्मों तथा कर्मों को बताने वाले; गायन्—गाते हुए; विलज्जः—क्षोभ से मुक्त; विचरेत्—विचरण करना चाहिए; असङ्गः—भौतिक संगति के बिना।

जिस बुद्धिमान व्यक्ति ने अपने मन को वश में कर लिया है और भय पर विजय प्राप्त कर ली है, उसे पत्नी, परिवार, राष्ट्र जैसे भौतिक वस्तुओं के प्रति सारी आसक्ति को त्याग देना चाहिए और निर्द्वन्द्व होकर चक्रपाणि भगवान् के पवित्र नामों का श्रवण और कीर्तन करते हुए मुक्त भाव से विचरण करना चाहिए। कृष्ण के पवित्र नाम सर्वमंगलकारी हैं, क्योंकि वे उनके दिव्य जन्म तथा बद्धजीवों के मोक्ष के लिए इस जगत में किये जाने वाले उनके कार्यों का वर्णन करने वाले हैं। इस तरह भगवान् के पवित्र नामों का विश्व-भर में गायन होता है।

तात्पर्य : चूँकि भगवान् के नाम, रूप तथा लीलाएँ अनन्त हैं, अतएव उन सबों को सुन पाना या उनका कीर्तन कर पाना किसी के लिए सम्भव नहीं है। अतएव *लोके* शब्द सूचित करता है कि इस विशेष लोक में भगवान् के पवित्र नाम जो अत्यन्त प्रसिद्ध हैं, उन्हीं का कीर्तन करना चाहिए। इस जगत में राम तथा कृष्ण अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। उनके ग्रंथ *रामायण* तथा *भगवद्‌गीता* सारे संसार में पढ़े जाते हैं और उनका आस्वादन किया जाता है। इसी तरह चैतन्य महाप्रभु भी क्रमश: सारे विश्व में प्रसिद्ध हो रहे हैं, जैसाकि उन्होंने स्वयं भविष्यवाणी की थी। *पृथिवीते आछे यत नगरादि ग्राम।सर्वत्र प्रचार हैबे मोर नाम*—इस पृथ्वी के हर नगर तथा हर ग्राम में मेरे नाम के यश का कीर्तन किया जायेगा। अतएव *श्रीमद्‌भागवत* के इस श्लोक के प्रामाणिक कथन के ही अनुसार कृष्णभावनामृत आन्दोलन *महामन्त्र*—हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे—एवं उसी के साथ *पञ्चतत्त्व महामन्त्र— श्रीकृष्णचैतन्य प्रभु नित्यानन्द श्रीअद्वैत गदाधर श्रीवासादिगौरभक्तवृन्द*—पर बल देता है।

श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार किसी भौतिक भाव के बिना भगवन्नाम कीर्तन की यह आनन्दमय विधि *सुगमं मार्गम्* कहलाती है। इसी तरह भगवान् कृष्ण ने *भक्तियोग* की विधि को *सुसुखं कर्तुम्* कहा है और श्री लोचन दास ठाकुर ने गाया है कि—*सब अवतार सारशिरोमणि केवल आनन्दकाण्ड।* कृष्ण की पूजा करने के लिए चैतन्य महाप्रभु की विधि *केवल आनन्दकाण्ड*—केवल आनन्दमय—है। इस सम्बन्ध में श्रील प्रभुपाद ने कहा है कि संसार के किसी भी भाग में लोग एकत्र होकर हरे कृष्ण मंत्र का कीर्तन कर सकते हैं, *भगवद्‌गीता यथारूप* का पाठ कर सकते हैं और आनंदपूर्वक *कृष्ण-प्रसादम्* ग्रहण कर सकते हैं, जैसाकि चैतन्य महाप्रभु ने नवद्वीप में किया।

किन्तु इस कार्यक्रम के सफल होने के विषय में लोचन दास ठाकुर ने आगाह किया है *विषय छाडिया*—मनुष्य को इन्द्रियतृप्ति का परित्याग कर देना चाहिए। यदि कोई इन्द्रियतृप्ति में रत होता है, तो वह देहात्म-बुद्धि को प्राप्त होगा और जो ऐसी बुद्धि में होगा वह निस्सन्देह भगवान् की लीलाओं के सम्बन्ध में भौतिकतावादी दृष्टिकोण रखेगा। इस प्रकार भगवान् की लीलाओं को संसारी मानने से वह *मायावाद* या निर्विशेषवाद की श्रेणी में आ जायेगा, जिसमें भगवान् के दिव्य शरीर को भौतिक प्रकृति की सृष्टि माना जाता है। इसीलिए इस श्लोक में *असङ्गः* शब्द अत्यन्त सार्थक है। मनुष्य को चाहिए कि बिना मानसिक चिन्तन के भगवन्नाम का कीर्तन करे। उसे चाहिए कि भगवान् कृष्ण को

उसी रूप में स्वीकार करे, जिसमें वे अपने को *भगवद्गीता* में प्रस्तुत करते हैं और यह कहते हैं कि वे ही एकमात्र पुरुषोत्तम अर्थात् भगवान् हैं और उनका दिव्य रूप शाश्वत है (*अजोऽपि सन्नव्ययात्मा*)

श्रील जीव गोस्वामी ने जोर देकर कहा है *यानिशास्त्रद्वारा सत्परम्पराद्वारा च लोके गीतानि जन्मानि कर्माणि च, तानि शृण्वन् गायंश्च*—यदि कोई व्यक्ति भगवन्नाम के श्रवण तथा कीर्तन में सफल होना चाहता है, तो उसे *सत्परम्परा* विधि ग्रहण करनी होगी। इस सत्परम्परा को प्रामाणिक वैदिक शास्त्रों से पहचाना जा सकता है। अज्ञानी आलोचकों के मत के विपरीत, कृष्णभावनामृत के अनुयायी मस्तिष्करहित या उन्मत्त नहीं होते। वे बुद्धिमानी के साथ *गुरु, साधु* तथा *शास्त्र* द्वारा जाँच-पड़ताल की प्रणाली का पालन करते हैं। अर्थात् मनुष्य को प्रामाणिक गुरु बनाना होगा, जिसकी पुष्टि महान् पुरुषों तथा शास्त्रों के मत द्वारा होती है। यदि कोई व्यक्ति प्रामाणिक गुरु बनाता है, महापुरुषों के उदाहरण का अनुसरण करता है तथा प्रामाणिक ग्रंथों से यथा *भगवद्गीता यथारूप* एवं *श्रीमद्भागवत* से परिचित हो जाता है, तो भगवान् के पवित्र नामों के कीर्तन एवं भगवान् की लीलाओं के श्रवण का उसका कार्यक्रम पूर्णतया सफल होगा। जैसाकि *भगवद्गीता* (४.९) में कृष्ण कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यम् एवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥

"हे अर्जुन! जो मेरे आविर्भाव तथा कर्मों की दिव्य प्रकृति को तत्त्व से जानता है, वह इस शरीर को छोड़ने पर इस संसार में पुनः जन्म नहीं लेता, अपितु मेरे सनातन धाम को प्राप्त होता है।"

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा है कि भगवान् सारे जगत में अनेक नामों से, जिनमें से कुछ साधारण बोलचाल की भाषा में हैं जाने जाते हैं, किन्तु इस श्लोक के अनुसार कोई नाम, जो उन अद्वितीय भगवान् को इंगित करने के लिए प्रयुक्त होता है और जो भौतिक प्रकृति के परे हैं, ईश्वर के पवित्र नाम के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इसको *लोके* शब्द से इंगित किया गया है।

किसी को *विचरेत्* शब्द से यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि कृष्ण-नाम का कीर्तन करते हुए कोई कहीं भी विचरण कर सकता है अथवा बिना भेद-विभेद के कोई भी कर्म कर सकता है। इसीलिए *विचरेद् असंगः* आया है—अर्थात् मनुष्य मुक्त भाव से विचरण तो कर सकता है, किन्तु उसे ऐसे लोगों की संगति से बचना चाहिए जो कृष्णभावनामृत में रुचि नहीं रखते हैं अथवा जो पापमय जीवन में लगे

हैं। श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है—*असत्-संग-त्याग—एइ वैष्णव आचार* (चैतन्य चरितामृत मध्य २२.८७)—वैष्णव समस्त संसारी संगति से पूर्णतया विरक्त होता है। यदि भगवान् की महिमा का कीर्तन करते हुए विचरण करते समय वैष्णव प्रचारक को कोई विनीत अभक्त मिले, जो कृष्ण के विषय में सुनना चाहता हो, तो प्रचारक ऐसे व्यक्ति को अपनी कृपालु संगति सदैव प्रदान करेगा। किन्तु वैष्णव उन लोगों से अवश्य बचे, जो कृष्ण के विषय में श्रवण करना नहीं चाहते।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार जो लोग चकित करने वाली भगवान् की लीलाओं तथा उनके पवित्र नामों को सुनने में अपने को नहीं लगाते और भगवान् की लीलाओं का आस्वादन नहीं करते वे केवल संसारी मायामय कार्यों को सम्पन्न करते हैं या मिथ्या भौतिकतावादी त्याग में अपने को लगाते हैं। कभी कभी हताश जीव शुष्क निर्विशेषवाद को स्वीकार कर लेते हैं और वे भगवान् के नित्य नाम, रूप, गुण, पार्षद तथा लीलाओं के वर्णन से बचते हैं। किन्तु यदि किसी को शुद्ध भक्त की संगति प्राप्त होती है, तो वह शुष्क चिन्तनपरक तर्क को त्याग देता है और भगवद्भक्ति के असली वैदिक मार्ग पर स्थित हो जाता है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर कहते हैं कि *द्वैत* शब्द इस मिथ्या ज्ञान को व्यक्त करता है कि कृष्ण से स्वतंत्र अस्तित्व वाली कोई वस्तु है। अद्वैत की मायावादी धारणा जो आध्यात्मिक विशेषता से रहित है, मन द्वारा स्वीकृति तथा निषेध की दूसरी अभिव्यक्ति है। भगवान् का नित्य प्राकट्य तथा उनकी लीलाएँ कभी भी *अद्वय ज्ञान* के चिन्तन के विरुद्ध नहीं होतीं।

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः ।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

एवम्-व्रतः—जब कोई कीर्तन करने तथा नाचने के व्रत में लगता है; स्व—अपना; प्रिय—अत्यन्त प्रिय; नाम—पवित्र नाम; कीर्त्या—कीर्तन के द्वारा; जात—इस तरह उत्पन्न; अनुरागः—अनुरक्ति; द्रुत-चित्तः—द्रवित हृदय; उच्चैः—उच्च स्वर से; हसति—हँसता है; अथो—भी; रोदिति—रोता है; रौति—विक्षुब्ध होता है; गायति—कीर्तन करता है; उन्माद-वत्—उन्मत्त की तरह; नृत्यति—नाचता है; लोक-बाह्यः—बाहरी लोगों की परवाह न करके।

भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करने से मनुष्य भगवत्प्रेम की अवस्था को प्राप्त करता है। तब भक्त भगवान् के नित्य दास रूपी व्रत में स्थिर हो जाता है और क्रमशः भगवान् के किसी

एक नाम तथा रूप के प्रति अत्यधिक अनुरक्त हो उठता है। जब उसका हृदय भावमय प्रेम से द्रवित होता है, तो वह जोर-जोर से हँसता या रोता है अथवा चिल्लाता है। कभी कभी वह उन्मत्त की तरह गाता और नाचता है, क्योंकि वह जन-मत के प्रति उदासीन रहता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में शुद्ध भगवत्प्रेम का वर्णन किया जा रहा है। श्रील श्रीधर स्वामी ने इस आध्यात्मिक स्थिति को *सम्प्राप्तप्रेमलक्षणभक्तियोगस्य संसारधर्मातीतां गतिम्* कहा है अर्थात् जीवन की ऐसी सिद्धावस्था जिसमें भगवद्भक्ति भावमय प्रेम द्वारा समृद्ध होती है। उस समय मनुष्य के आध्यात्मिक कार्य सांसारिक मामलों की सीमा से परे होते हैं।

श्रीचैतन्य-चरितामृत (आदि ७.७८) में श्री चैतन्य महाप्रभु का निम्नलिखित कथन प्राप्त है—

धैर्य धरिते नारि, हैलाम उन्मत्त।

हासि, कान्दि, नाचि, गाइ, यैछे मद-मत्त॥

"शुद्ध भाव में भगवन्नाम का कीर्तन करते हुए मैं अपने को खो देता हूँ और इस तरह मैं पागल की भाँति हँसता, चिल्लाता, नाचता तथा गाता हूँ।" चैतन्य महाप्रभु तुरन्त अपने गुरु के पास यह पूछने के लिए पहुँचे कि वे कृष्ण के पवित्र नाम के कीर्तन से पागल जैसे क्यों दिखने लगे हैं। उनके गुरु ने उत्तर दिया—

कृष्णनाममहामन्त्रेर एइ तऽस्वभाव।

येइ जपे, तार कृष्णे उपजये भाव॥

"यह तो हरे कृष्ण महामंत्र की प्रकृति है कि जो भी इसका कीर्तन करता है, उसमें तुरन्त कृष्ण के प्रति प्रेम-भाव का विकास हो जाता है।" (चैतन्य चरितामृत, आदि ७.८३) इस सन्दर्भ में श्रील प्रभुपाद ने टीका की है, "ये लक्षण शुद्ध भक्त के शरीर में स्पष्ट दिखने लगते हैं। कभी कभी जब कृष्णभावनामृत आन्दोलन के हमारे छात्र कीर्तन करते और नाचते हैं, तो भारत-वर्ष के लोग भी यह देखकर आश्चर्यचकित हो जाते हैं कि इन विदेशियों ने किस तरह इस भाव-शैली में कीर्तन करना तथा नाचना सीख लिया है। किन्तु जैसाकि चैतन्य महाप्रभु ने बतलाया है यह अभ्यासवश नहीं होता, क्योंकि ये लक्षण हरे कृष्ण महामंत्र का कीर्तन करने वाले किसी भी व्यक्ति में बिना किसी विशेष प्रयास के, प्रकट हो सकते हैं।"

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इस सन्दर्भ में हमको अपवित्र *सहजियों* से आगाह किया है, जो अवैध रूप से भगवान् की लीलाओं का अनुकरण करते हैं और वैदिक शास्त्रों के आदर्श आदेशों की उपेक्षा करते हुए पुरुषोत्तम रूप कृष्ण के पद को मूर्खतापूर्वक नकल करने एवं इस तरह भगवान् की उच्च लीलाओं का भद्दा मजाक उड़ाने का प्रयत्न करते हैं। उनके तथाकथित भाव-लक्षणों यथा चिल्लाने, काँपने तथा पृथ्वी पर गिर पड़ने को भक्ति के उच्च लक्षणों से संभ्रामित नहीं करना चाहिए जिनका वर्णन श्रीधर स्वामी ने *सम्प्राप्तप्रेमलक्षणभक्तियोग* के रूप में किया है। इस सम्बन्ध में श्रील प्रभुपाद की टिप्पणी है कि ''जिसने यह भाव-अवस्था प्राप्त कर ली है, वह माया के चंगुल में और अधिक समय तक नहीं रहता।'' इसी प्रकार कृष्णदास कविराज कहते हैं—

पञ्चम पुरुषार्थ—प्रेमानन्दामृत-सिन्धु।

मोक्षादि आनन्द यार नहे एक बिन्दु॥

''जिस भक्त ने भाव (भगवत्प्रेम) उत्पन्न कर लिया हो उसके लिए धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष से प्राप्त होने वाला आनन्द सागर की तुलना में एक बूँद जैसा प्रतीत होता है।'' (*चैतन्य-चरितामृत, आदि* ७.८५) जैसाकि इस अध्याय के पिछले श्लोक में कहा गया है *गायन् विलज्जो विचरेद् असंग:*—जब मनुष्य असंग अर्थात् भौतिक इन्द्रियतृप्ति की आसक्ति से रहित होता है, तो उसमें भगवत्प्रेम के भाव-लक्षण प्रकट होते हैं।

इस श्लोक के *लोक-बाह्य:* शब्द से सूचित होता है कि प्रेम पद को प्राप्त शुद्ध भक्त देहात्म बुद्धि वाले सामान्य लोगों द्वारा किए गए उपहास, प्रशंसा, आदर अथवा आलोचना की परवाह नहीं करता। कृष्ण परब्रह्म भगवान् हैं और जब वे अपने शरणागत सेवक को अपना दर्शन देते हैं, तो ब्रह्म के स्वभाव के विषय में सारा सन्देह तथा चिन्तन छू-मन्तर हो जाता है।

इस सम्बन्ध में श्रीपाद मध्वाचार्य ने वराह पुराण का एक श्लोक उद्धृत किया है—

केचिद् उन्मादवद् भक्ता बाह्यय-लिंग-प्रदर्शका:।

केचिद् आन्तरभक्ता: स्यु: केचिच्चैवोभयात्मका:।

मुख प्रसादाद् दार्ढयाच्च भक्तिर्ज्ञेया न चान्यत:॥

''कुछ भगवद्भक्त पागलों की तरह के, कुछ अन्तर्मुखी भक्तों की तरह के और कुछ दोनों के स्वभावों के बाह्य लक्षण प्रदर्शित करते हैं। किसी के स्थैर्य तथा उसके मुख से निकलने वाले दयामय स्वरों से उसकी भक्ति जानी जा सकती है, अन्यथा नहीं।''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने भावमय प्रेम में हँसने तथा भगवत्प्रेम में अन्य लक्षणों को बतलाने वाला एक अतीव सुन्दर उदाहरण दिया है, ''ओह, वह यशोदा-पुत्र चोर कृष्ण मेरे घर में माखन चुराने के लिए घुसा है। उसे पकड़ो और उसे दूर रखो।'' एक वृद्ध *गोपी* जरती के ये धमकी-भरे शब्द सुनकर कृष्ण तुरन्त घर से भागने के लिए तैयार हो जाते हैं। जिस भक्त को यह दिव्य लीला प्रत्यक्ष प्रकट होती प्रतीत होती है, वह भावमय प्रेम में हँसता है, किन्तु सहसा उसे कृष्ण नहीं दिखने लगते। तब वह अतीव शोक में चिल्लाता है, ''ओह! मुझे संसार की सबसे बड़ी सम्पत्ति मिली थी, जो अब मेरे हाथों से सहसा छूट गई है।'' इस प्रकार भक्त जोर से चिल्लाता है, ''हे प्रभु! आप कहाँ हैं? आप जवाब दीजिये न!'' इस पर भगवान् उत्तर देते हैं, ''हे भक्त! मैंने तुम्हारी ऊँची आवाज में शिकायत सुन ली है, अतएव मैं फिर से तुम्हारे सामने आया हूँ।'' भगवान् कृष्ण को पुन: देखकर भक्त गा उठता है, ''आज मेरा जीवन सफल हो गया।'' इस तरह दिव्य आनन्द से अभिभूत होकर वह पागल की तरह नाचने लगता है।''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर यह भी टिप्पणी करते हैं कि *द्रुतचित्त:* शब्द यह बतलाता है कि भगवान् का दर्शन करने की चिन्ता रूपी अग्नि से भक्त का हृदय पिघल कर जम्बू नदी के समान बन जाता है। वे यह भी इंगित करते हैं कि—*नामकीर्तनस्य सर्वोत्कर्षम्*—यह श्लोक तथा पिछला श्लोक *श्रवणं कीर्तनं विष्णो:* के उच्च पद को बतलाते हैं। चैतन्य महाप्रभु ने भी निम्नलिखित उद्धरण देते हुए इसी पर बल दिया है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

''इस कलियुग में आध्यात्मिक उन्नति के लिए भगवन्नाम के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं, कोई विकल्प नहीं, कोई विकल्प नहीं है।'' *चैतन्य-चरितामृत* के (*आदि* ७.७६) के तात्पर्य में श्रील प्रभुपाद ने इस श्लोक की विस्तृत व्याख्या की है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर की संस्तुति है कि हम इस प्रसंग के लिए निम्नलिखित श्लोक पढ़ें—

परिवदतु जनो यथा तथा वा
ननु मुखरो न वयं विचारयाम: ।
हरिरसमदिरामदातिमत्ता
भुवि विलुठामो नटामो निर्विशाम: ॥

"बातूनी जनता चाहे जो भी कह ले, हम उसकी परवाह नहीं करेंगे। कृष्ण-प्रेम की मतवाली सुरा के भाव से उन्मत्त हम इधर-उधर दौड़ते, पृथ्वी पर लुढ़कते-पुढ़कते तथा भावावेश में नाचते हुए जीवन का आनन्द लूटेंगे।" (पद्यावली ७३)

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् ।
सरित्समुद्रांश्च हरे: शरीरं
यत्किं च भूतं प्रणमेदनन्य: ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

खम्—शून्य; वायुम्—वायु; अग्निम्—अग्नि; सलिलम्—जल; महीम्—पृथ्वी; च—तथा; ज्योतींषि—सूर्य, चन्द्रमा तथा अन्य दैवी प्रकाशमान पिंड; सत्त्वानि—सारे जीव; दिश:—दिशाएँ; द्रुम-आदीन्—वृक्ष तथा अन्य अचर प्राणियों को; सरित्—नदियाँ; समुद्रान्—तथा समुद्र; च—भी; हरे:—भगवान् हरि के; शरीरम्—शरीर को; यत् किम् च—जिसे भी; भूतम्—सृष्ट जगत में; प्रणमेत्—प्रणाम करना चाहिए; अनन्य:—भगवान् से पृथक् कुछ भी नहीं है, इस प्रकार सोचते हुए।

भक्त को चाहिए कि किसी भी वस्तु को भगवान् कृष्ण से पृथक् नहीं देखे। शून्य, अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी, सूर्य तथा अन्य नक्षत्र, सारे जीव, दिशाएँ, वृक्ष तथा अन्य पौधे, नदियाँ तथा समुद्र इनमें से भक्त को जिस किसी का भी अनुभव हो, उसे वह कृष्ण का अंश माने। इस प्रकार सृष्टि के भीतर विद्यमान हर वस्तु को भगवान् हरि के शरीर के रूप में देखते हुए भक्त को चाहिए कि भगवान् के शरीर के सम्पूर्ण विस्तार के प्रति नमस्कार करे।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी ने पुराणों से यह उदाहरण दिया है—*यत् पश्यति, तत्त्वनुरागातिशयेन "जगद्धनमयं लुब्धा: कामुका: कामिनीमयम्" इति-वत् हरे: शरीरम्*—"धनलोलुप होने से लोभी मनुष्य, जहाँ भी जाता है उसे धन अर्जित करने का अवसर दिखता है। इसी प्रकार अत्यन्त कामी पुरुष को सर्वत्र स्त्रियाँ दिखती हैं।" इसी प्रकार शुद्ध भक्त को हर वस्तु के भीतर भगवान् का दिव्य स्वरूप

देखना चाहिए, क्योंकि हर वस्तु भगवान् का अंश है। यह हमारा व्यावहारिक अनुभव है कि लोभी व्यक्ति को सर्वत्र धन दिखेगा। यदि वह जंगल में जाता है, तो तुरन्त विचार करता है कि जंगल की भूमि खरीदना और उसके वृक्षों को किसी कागज-कारखाने को बेच देना लाभप्रद होगा या नहीं। इसी प्रकार यदि कामी पुरुष उसी जंगल में जाता है, तो वह चारों ओर सुन्दर स्त्री पर्यटकों के लिए, जो वहाँ गई हों, ताकेगा। किन्तु यदि उसी जंगल में एक भक्त जाता है, तो वह वहाँ कृष्ण का दर्शन करेगा, क्योंकि वह ठीक जानता है कि सारा जंगल, यहाँ तक कि उसके ऊपर का आकाश भी, भगवान् की अपरा शक्ति है। कृष्ण परम पवित्र हैं, क्योंकि वे भगवान् हैं और, चूँकि प्रत्येक वस्तु जिसका अस्तित्व है, वह भगवान् के शरीर से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से विस्तार पाती है, अतएव जब स्वरूपसिद्ध मनुष्य की आँखों से ये वस्तुएँ देखी जाती हैं, तो पवित्र दिखती हैं। इसलिए जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है *प्रणमेत्*—अर्थात् हर वस्तु को सच्चे मन से प्रणाम करना चाहिए। श्रील जीव गोस्वामी ने उल्लेख किया है कि हमें सर्वत्र कृष्ण के साकार रूप का दर्शन करना चाहिए।

यह श्लोक इस निर्विशेष नास्तिकवादी दर्शन का समर्थन नहीं करता कि हर वस्तु ईश्वर है। इस सम्बन्ध में श्रील मध्वाचार्य ने *हरिवंश* से निम्नलिखित श्लोक प्रस्तुत किया है—

सर्वं हरेर्वशत्वेन शरीरं तस्य भण्यते।

अनन्याधिपतित्वाच्च तदनन्यमुदीर्यते।

न चाप्यभेदो जगतां विष्णोः पूर्णगुणस्य तु॥

''चूँकि हर वस्तु भगवान् हरि के नियंत्रण में है, अतएव हर वस्तु को उनका शरीर माना जाता है। वे हर वस्तु के आदि स्रोत तथा स्वामी हैं। अतएव उनसे पृथक् रूप में कुछ भी नहीं देखना चाहिए।'' इतने पर भी किसी को मूर्खतापूर्वक यह नहीं समझ बैठना चाहिए कि भौतिक ब्रह्माण्ड तथा भगवान् विष्णु में, जो कि अपने अद्वितीय आध्यात्मिक गुणों से पूर्ण हैं, कोई भी अन्तर नहीं है।''

प्रायः सूर्य तथा सूर्य की किरणों का दृष्टान्त प्रस्तुत किया जाता है। सूर्य का प्रकाश सूर्यमण्डल का ही विस्तार होता है, अतएव गुणात्मक दृष्टि से सूर्य तथा इसकी किरणों में अन्तर नहीं होता। किन्तु सूर्य-प्रकाश के सर्वत्र होने एवं हर वस्तु को सूर्य की शक्ति का रूपान्तर होने पर भी सूर्य-प्रकाश का

स्रोत (सूर्यमण्डल) सर्वत्र नहीं रहता अपितु विशाल आकाश में एक विशेष स्थान पर स्थित होता है और उसका अपना विशिष्ट रूप होता है।

यदि हम सूर्यमण्डल के भीतर प्रवेश करें, तो हमें सूर्य-देव विवस्वान् मिलेंगे। यद्यपि वर्तमान युग के छद्म बौद्धिकजन, जो अपने सिर के बालों को भी नहीं गिन सकते, सूर्य-देव को एक पौराणिक व्यक्ति मानेंगे, किन्तु यह वास्तव में आधुनिक मनुष्यों की मूर्खता की बात होगी कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को उष्मा तथा प्रकाश देने वाला सूर्य जैसा परिष्कृत उपकरण बुद्धिमान प्रशासन के बिना कार्य कर सकता है। सूर्य की शक्ति के रूपान्तर से पृथ्वी पर जीवन सम्भव है, इसलिए पृथ्वी को सर्वव्यापी सौर-ऊर्जा के गौण रूपान्तरों की अनन्त विविधता से युक्त समझना चाहिए।

इस तरह सूर्य-लोक के भीतर विवस्वान है, जो सौर कार्यों का मुख्य प्रशासक है, सूर्यमण्डल स्वयं सीमित हैं, किन्तु सूर्य की किरणें सर्वत्र फैलती हैं। इसी तरह श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण आदि भगवान् हैं (*भगवान् स्वयम्*), वे अपना विस्तार प्रत्येक हृदय में स्थानीय अन्तर्यामी परमात्मा के रूप में करते हैं और अन्ततः अपनी शारीरिक चमक से, जो कि *ब्रह्मज्योति* है, अपनी शक्ति का विस्तार करते हैं। सम्पूर्ण विराट जगत इस *ब्रह्मज्योति* की किरणों के भीतर तैरता रहता है। जिस तरह पृथ्वी पर सारा जीवन सूर्य की सर्वव्यापी किरणों का रूपान्तर है, उसी तरह यह विराट जगत *ब्रह्मज्योति* की आध्यात्मिक किरणों का रूपान्तर है। *ब्रह्म-संहिता* (५.४०) में कहा गया है—

यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि

कोटिष्वशेषवसुधादि विभूतिभिन्नम्।

तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतां

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

''मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ, जो महान् शक्ति से युक्त हैं। उनके दिव्य रूप का चमकीला तेज निर्विशेष ब्रह्म है, जो परम, पूर्ण तथा असीम है और जो अपने विभिन्न ऐश्वर्यों से युक्त असंख्य लोकों की विविधता प्रदर्शित करता है।'' इसलिए *ब्रह्मज्योति* वह आध्यात्मिक प्रकाश है, जो सीधे भगवान् के शरीर से उद्भूत होता है। यह ब्रह्माण्ड उसी आध्यात्मिक शक्ति का रूपान्तर है, इसलिए इसमें विद्यमान प्रत्येक वस्तु एक तरह से भगवान् के निजी शरीर से सीधे सम्बद्ध है।

यहाँ इस बात पर बल दिया गया है कि हमें हर विद्यमान वस्तु को भगवान् की शक्ति मान कर प्रणाम करना चाहिए। यहाँ पर यह दृष्टान्त दिया जा सकता है कि यदि कोई मनुष्य महत्त्वपूर्ण है, तो उसकी सम्पत्ति भी महत्त्वपूर्ण है। किसी देश का राष्ट्रपति उस देश का सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति होता है और इसलिए हर व्यक्ति को उसकी सम्पत्ति का आदर करना चाहिए। इसी तरह हर वस्तु, जो कि विद्यमान है भगवान् का अंश है और उसी के अनुसार समादरित होनी चाहिए। यदि हम प्रत्येक विद्यमान वस्तु को भगवान् की शक्ति के रूप में नहीं देख पाते, तो हम मायावाद दर्शन की ओर जाने का खतरा मोल लेते हैं, जो चैतन्य महाप्रभु के अनुसार वास्तविक आध्यात्मिक जीवन में प्रगति के इच्छुक व्यक्ति के लिए सर्वाधिक भयंकर विष है। *मायावादी भाष्य शुनिले हय सर्वनाश* (चैतन्य-चरितामृत मध्य ६.१६९)। यदि हम कृष्ण को उनकी शक्ति के विस्तार के बिना ही समझने का प्रयास करेंगे, तो हमें *भगवद्गीता* के *वासुदेव: सर्वम्* तथा *अहं सर्वस्य प्रभव:* जैसे कथन समझ में नहीं आयेंगे।

इस अध्याय में जैसाकि पहले ही कहा जा चुका है *भयं द्वितीयाभिनिवेशत: स्यात्*—भय या मोह यह सोचने से उत्पन्न होता है कि भगवान् पर आधारित न रहने वाली भी कोई वस्तु है। अब इस श्लोक में इस भय-पूर्ण मोह को जीतने की विशेष विधि दी हुई है। मनुष्य को चाहिए कि विद्यमान प्रत्येक वस्तु को भगवान् की शक्ति के विस्तार के रूप में समझने के लिए अपने मन को प्रशिक्षित करे। हर वस्तु को नमस्कार करके तथा हर वस्तु को भगवान् के शरीर का अंश मान कर ध्यान करने से मनुष्य भय से मुक्त हो सकेगा। जैसाकि *भगवद्गीता* (५.२९) में कहा गया है—*सुहृदं सर्वभूतानाम्*—कृष्ण हर जीव के हितैषी मित्र हैं। जब मनुष्य यह समझ लेता है कि प्रत्येक वस्तु उसके अत्यन्त प्रिय मित्र के नियंत्रण में है, तो वह ऐसी अवस्था को प्राप्त होता है, जिसमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड आनन्दमय धाम बन जाता है (*विश्वं पूर्णसुखायते*), क्योंकि उसे सर्वत्र ही कृष्ण दिखते हैं।

यदि कृष्ण का व्यक्तित्व हर वस्तु का स्रोत न होता और हर वस्तु कृष्ण से सम्बन्धित न होती, तो यह निष्कर्ष निकालना उचित ही होता कि कृष्ण का व्यक्तित्व किसी निर्विशेष सत्य की भौतिक अभिव्यक्ति है। जैसाकि *वेदान्त सूत्र* में कहा गया है *जन्माद्यस्य यत:*—परब्रह्म वह है, जिससे हर वस्तु उद्भूत होती है। इसी प्रकार कृष्ण कहते हैं *अहं सर्वस्य प्रभव:*—मैं प्रत्येक वस्तु का स्रोत हूँ। यदि हम

किसी वस्तु को कृष्ण के शरीर से पूर्णतया असम्बद्ध देखते हैं, तो हम सन्देह कर सकते हैं कि क्या कृष्ण का व्यक्तित्व वास्तव में वही परम स्रोत है, जिसका वर्णन *वेदान्त सूत्र* में मिलता है। ज्योंही कोई मनुष्य ऐसा अनुभव करता है, वह भयभीत हो उठता है और उसे भगवान् की मायाशक्ति के अधीन समझना चाहिए।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने हमें आगाह किया है कि यदि हम हर वस्तु को भगवान् की अभिव्यक्ति के रूप में नहीं देखते, तो हम *फल्गु-वैराग्य* अर्थात् अपरिपक्व वैराग्य के शिकार हो जायेंगे। हम कृष्ण से असम्बद्ध जो भी वस्तु देखेंगे उससे हमारे मन में कृष्ण की सेवा से कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं होगा, किन्तु यदि हम हर वस्तु को कृष्ण से सम्बन्धित देखते हैं, तो हम हर वस्तु का उपयोग कृष्ण की तुष्टि के लिए करेंगे। यह *युक्त-वैराग्य* कहलाता है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार "जिसने अपनी सही-सही पहचान का अनुभव कर लिया है, वह यह समझता है कि सारी वस्तुएँ भगवान् को भावमय आनन्द प्रदान करने के लिए साज-सामग्री के रूप में विद्यमान हैं। इस तरह मनुष्य उस स्वतंत्रतावादी दृष्टि से मुक्त हो जाता है, जिसमें वह सारे संसार को अपने ही भोग के निमित्त विद्यमान मानता है। दिव्य अवस्था में भक्त जो भी वस्तु देखता है, वह उसे कृष्ण का स्मरण कराती है और इस तरह उसका दिव्य ज्ञान तथा आनन्द दोनों ही बढ़ते हैं।" चूँकि निर्विशेषवादी दार्शनिक हर वस्तु को कृष्ण के निजी स्वरूप से सम्बन्धित नहीं देख पाते, अतएव वे इस संसार को मिथ्या कहकर बहिष्कार करते हैं (*जगन् मिथ्या*)। किन्तु यह भौतिक जगत परम सत्य कृष्ण से उद्भूत है, इसलिए वास्तव में इसका अस्तित्व है। इसका अनस्तित्व कल्पनाजन्य है और मनुष्य ऐसे काल्पनिक स्तर पर कार्य नहीं कर सकता। इसलिए माया का सिद्धान्त प्रस्तावित करके और उस स्तर पर वास्तव में रहने में असमर्थ होने से निर्विशेषवादी परोपकारी या इन्द्रिय-तुष्टि करने वाले कार्यों के भौतिक स्तर पर उतर आते हैं। चूँकि निर्विशेषवादी भगवान् के निजी स्वामित्व को नहीं मानता, इसलिए वह यह नहीं जानता कि इस जगत की वस्तुओं को किस तरह अथवा किसके लिए प्रयोजित किया जाय और चूँकि इस जगत के भीतर रहते हुए इसको पूरी तरह ठुकरा पाना असम्भव है, अतएव वह भौतिक सकाम कर्मों में पुन: फँस सकता है। इसीलिए *भगवद्गीता* (१२.५) में कहा गया है—*क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम्*—काल्पनिक दर्शन के निर्विशेष पथ पर चल पाना अत्यन्त कष्टप्रद है।

निष्कर्ष यह निकला कि यह श्लोक भगवद्भक्तों को कृष्णभावनामृत में अग्रसर होने में सहायता देने के लिए कहा गया है। इस अध्याय के पिछले श्लोकों से यह समझा जा सकता है कि चरम लक्ष्य तो कृष्ण की शुद्ध भक्ति है। यदि कोई धोखे से इस श्लोक को मायावाद दर्शन की पुष्टि करने वाला समझ बैठे—कि हर वस्तु ईश्वर है—तो वह मोहग्रस्त ही होगा और आध्यात्मिक प्रगति के मार्ग से डिग जायेगा।

भक्तिः परेशानुभवो विरक्ति-
रन्यत्र चैष त्रिक एककालः ।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्
तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

भक्तिः—भक्ति; पर-ईश—भगवान् की; अनुभवः—प्रत्यक्ष अनुभूति; विरक्तिः—विराग; अन्यत्र—अन्यत्र वस्तुओं से; च—तथा; एषः—यह; त्रिकः—तीन का समूह; एक-कालः—एक ही समय; प्रपद्यमानस्य—शरणागत होने वाले के लिए; यथा—जिस तरह; अश्नतः—भोजन करने में व्यस्त; स्युः—घटित होते हैं; तुष्टिः—तुष्टि; पुष्टिः—पोषण; क्षुत्-अपायः—भूख से छुटकारा; अनु-घासम्—प्रत्येक कौर के साथ बढ़ती हुई।

जिस व्यक्ति ने भगवान् की शरण ग्रहण कर ली है, उसके लिए भक्ति, भगवान् का प्रत्यक्ष अनुभव तथा अन्य वस्तुओं से विरक्ति—ये तीनों एक साथ वैसे ही घटित होते हैं, जिस तरह भोजन करने वाले व्यक्ति के लिए प्रत्येक कौर में आनन्द, पोषण तथा भूख से छुटकारा—ये सभी एकसाथ और अधिकाधिक होते जाते हैं।

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी ने इस साम्य की विवेचना इस प्रकार की है : *भक्ति* की तुलना *तुष्टि* से की जा सकती है, क्योंकि दोनों आनन्द रूप हैं। *परेशानुभव* तथा *पुष्टि* एकसमान हैं, क्योंकि दोनों ही जीवनदायी हैं। और *विरक्ति* तथा *क्षुद् अपाय* दोनों और अधिक लालसा से मुक्ति दिलाने वाले हैं, जिससे मनुष्य को *शान्ति* मिलती है।

भोजन कर रहा व्यक्ति न केवल अन्य कार्यों के प्रति अरुचि रखता है, अपितु अपनी तुष्टि के अनुसार वह भोजन में भी अरुचि दिखाने लगता है। दूसरी ओर, श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार यद्यपि भगवान् कृष्ण के आनन्दमय स्वरूप का अनुभव करने वाला व्यक्ति कृष्ण के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं के प्रति अरुचि रखने लगता है, किन्तु कृष्ण के प्रति उसकी अनुरक्ति हर क्षण बढ़ती जाती है। इसलिए

यह समझ लेना चाहिए कि भगवान् का दिव्य सौन्दर्य तथा उनके गुण भौतिक नहीं हैं, क्योंकि भगवान् के आनन्द का आस्वादन करते हुए कभी कोई तृप्त नहीं होता।

इस श्लोक का *विरक्ति* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। *विरक्ति* और *त्याग* में अन्तर है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार *त्याग* उस स्थिति में प्रयुक्त होता है जब कोई भोग्य वस्तु को छोड़ देने का विचार करता है। किन्तु जैसा पिछले श्लोक में वर्णित है, हर वस्तु को भगवान् कृष्ण की सेवा के लिए उपयुक्त सामग्री मानते हुए मनुष्य को मन में त्याग नहीं लाना चाहिए, क्योंकि हर वस्तु का उपयोग भगवान् की सेवा में उचित रूप में किया जाता है (*युक्तवैराग्यमुच्यते*)।

इस श्लोक में अच्छे भोजन का सुन्दर दृष्टान्त दिया गया है। भूखा व्यक्ति नाना प्रकार के व्यंजनों को खाते हुए आसपास घटित हो रही घटनाओं में रुचि नहीं लेता। वस्तुत: वह अन्य किसी विषय या कार्य को स्वादिष्ट भोजन पर लगे अपने ध्यान में बाधक मानता है। इसी प्रकार, ज्यों ज्यों मनुष्य कृष्ण-भक्ति में प्रगति करता है, उसे कृष्ण-भक्ति से सम्बन्ध न रखने वाली हर बात अनिष्टकारी एवं बाधक प्रतीत होती है। ऐसे एकाग्र भगवत्प्रेम का वर्णन भागवत के द्वितीय स्कन्ध (२.३.१०) में *तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्* द्वारा किया गया है। मनुष्य को चाहिए कि वह भौतिक जगत का दिखावटी त्याग न करे अपितु वह अपने मन को इस तरह विधिवत् प्रशिक्षित करे कि हर वस्तु भगवान् के ऐश्वर्य का अंश लगे। जिस तरह भूखा भौतिकतावादी व्यक्ति अच्छा भोजन देखकर तुरन्त उसे मुँह में डाल लेना चाहता है, उसी तरह प्रगत कृष्ण-भक्त भौतिक वस्तुओं को देखते ही कृष्ण के आनन्द के लिए उनका प्रयोग कर लेने के लिए उत्सुक हो जाता है। हर वस्तु को कृष्ण-सेवा में प्रयुक्त करने की स्वैच्छिक ललक तथा कृष्ण-प्रेम के सागर में गहरा गोता लगाये बिना तथाकथित ईश-साक्षात्कार या तथाकथित धार्मिक जीवन की बातें करना व्यर्थ है और इनका भगवद्धाम में प्रवेश करने से कोई सम्बन्ध नहीं है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार *भक्तियोग* का मार्ग इतना आनन्दप्रद तथा व्यावहारिक है कि *साधन-भक्ति* की अवस्था में ही, जिसमें बिना अच्छी प्रकार से समझे मनुष्य नियमों एवं आदेशों का अनुसरण करता है, उसे चरम परिणाम की अनुभूति हो सकती है। जैसाकि श्रील रूप गोस्वामी ने (भक्तिरसामृतसिंधु १.२.१८७) कहा है—

ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।

निखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्त: स उच्यते॥

ज्योंही कोई व्यक्ति अन्य सारे कर्मों को त्याग कर (*विरक्तिरन्यत्र च*) भगवान् कृष्ण की शरण में आ जाता है (*प्रपद्यमानस्य*) त्योंही वह मुक्तात्मा (*जीवन्मुक्त:*) मान लिया जाता है। भगवान् कृष्ण इतने दयालु हैं कि जब कोई व्यक्ति यह समझ कर कि भगवान् हर वस्तु के उद्गम हैं उनकी शरण ग्रहण करता है, तो कृष्ण उसका भार अपने ऊपर ले लेते हैं और उसके हृदय के भीतर यह व्यक्त कर देते हैं कि वह उनके पूर्ण संरक्षण में है। इस तरह भक्ति, भगवान् का प्रत्यक्ष अनुभव तथा अन्य वस्तुओं से विरक्ति—ये तीनों भक्तियोग की प्रारम्भिक अवस्था से ही प्रकट होने लगते हैं, क्योंकि भक्तियोग का शुभारम्भ मोक्ष प्राप्ति के समय होता है। अन्य विधियों का चरम लक्ष्य मोक्ष ही होता है, किन्तु *भगवद्गीता* के अनुसार (१८.६६),

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच:॥

यदि कोई व्यक्ति कृष्ण की शरण में आ जाता है, तो वह तुरन्त मुक्त हो जाता है और इस तरह भगवान् के संरक्षण में पूर्ण विश्वास के साथ दिव्य भक्त के रूप में अपना जीवन प्रारम्भ करता है।

इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या
भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोध: ।
भवन्ति वै भागवतस्य राजं-
स्तत: परां शान्तिमुपैति साक्षात् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; अच्युत—अच्युत भगवान् के; अङ्घ्रिम्—चरणों को; भजत:—पूजा करने वाले को; अनुवृत्त्या—निरन्तर अभ्यास द्वारा; भक्ति:—भक्ति; विरक्ति:—विराग; भगवत्-प्रबोध:—भगवान् का ज्ञान; भवन्ति—प्रकट करते हैं; वै—निस्सन्देह; भागवतस्य—भक्त के लिए; राजन्—हे राजा निमि; तत:—तब; पराम् शान्तिम्—परम शान्ति; उपैति—प्राप्त करता है; साक्षात्—प्रत्यक्ष।

हे राजन्, जो भक्त अच्युत भगवान् के चरणकमलों की पूजा सतत प्रयत्नशील रहकर करता है, वह अचल भक्ति, विरक्ति तथा भगवान् का अनुभवगम्य ज्ञान प्राप्त करता है। इस प्रकार सफल भगवद्भक्त को परम आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त होती है।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* (२.७१) में कहा गया है—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।

निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥

''जिस व्यक्ति ने इन्द्रियतृप्ति की समस्त इच्छाओं का परित्याग कर दिया है, जो इच्छाओं से रहित है और जिसने सारी ममता त्याग दी है तथा अहंकार से रहित है, वही वास्तविक शान्ति को प्राप्त कर सकता है।'' श्रील प्रभुपाद की टीका है : ''निस्पृह होने का अर्थ है इन्द्रियतृप्ति के लिए कुछ भी इच्छा न करना। दूसरे शब्दों में, कृष्णभावनाभावित होने की इच्छा वास्तव में इच्छाशून्यता या निस्पृहता है। *चैतन्य-चरितामृत* में भी (मध्य १९.१४९) ऐसा ही कथन उपलब्ध है—

कृष्णभक्त—निष्काम, अतएव 'शान्त'।

भुक्ति-मुक्ति-सिद्धि-कामी—सकलि अशान्त॥

''चूँकि कृष्ण-भक्त इच्छारहित होता है, अतएव वह शान्त होता है। सकाम कर्मी भौतिक भोग चाहते हैं, ज्ञानी मुक्ति चाहते हैं, योगी भौतिक ऐश्वर्य चाहते हैं—अतएव ये सभी वासनाप्रिय हैं और शान्त नहीं हो सकते।''

सामान्यतया स्वार्थ-इच्छा से पीड़ित जीवों की तीन श्रेणियाँ हैं—*भुक्तिकामी, मुक्तिकामी* तथा *सिद्धिकामी। भुक्तिकामी* वे सामान्य व्यक्ति हैं, जो धन तथा धन से खरीदी जा सकने वाली हर वस्तु चाहते हैं। ऐसी प्राचीन मनोवृत्ति धन, यौन तथा सामाजिक प्रतिष्ठा भोगने की इच्छा पर आधारित होती है। जब जीव इस व्यामोह से अशान्त हो उठता है, तो वह मानसिक चिन्तन का सहारा लेता है और मोह के स्रोत तक पहुँचने का प्रयास करता है। ऐसा व्यक्ति *मुक्तिकामी* कहलाता है, क्योंकि वह भौतिक मोह को नकार कर चिन्ता से मुक्त निर्विशेष आध्यात्मिक अवस्था में तदाकार हो जाना चाहता है। मुक्तिकामी निजी इच्छा से भी प्रेरित होता है, यद्यपि यह इच्छा कुछ परिष्कृत होती है। इसी प्रकार *सिद्धिकामी* या *योगी* भी भौतिक या स्वार्थमय इच्छा से संदूषित होता है, क्योंकि वह अणिमा, लघिमा जैसी योगशक्तियों की इच्छा करता है। इसीलिए कहा गया है—*सकलि 'अशान्त'।* यदि किसी की निजी इच्छा होती है, चाहे वह भौतिक, दार्शनिक या यौगिक हो तो वह *अशान्त* होगा, क्योंकि वह अपने को तुष्टि का मुख्य लक्ष्य देखेगा। यह अहंवादी धारणा स्वयं में मोहमय है, अतएव अन्ततः अशान्त बनाने वाली है।

दूसरी ओर *कृष्ण-भक्त निष्काम, अतएव 'शान्त'*—कृष्ण-भक्त *निष्काम* होता है अर्थात् उसकी कोई निजी इच्छा नहीं होती। उसकी एकमात्र इच्छा कृष्ण को प्रसन्न करने की होती है। स्वयं शिवजी ने भगवद्भक्तों के इस अद्वितीय गुण की प्रशंसा इस प्रकार की है—

नारायणपरा: सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति।

स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिन: ॥

"जो व्यक्ति भगवान् नारायण का भक्त होता है, वह किसी से नहीं डरता। भक्त के लिए स्वर्ग-प्राप्ति, नरक-गमन तथा भवबन्धन से मोक्ष—ये एक-से लगते हैं (भागवत ६.१७.२८)।" यद्यपि निर्विशेषवादी दार्शनिक का प्रस्ताव होता है कि सारी वस्तुएँ एक हैं, किन्तु भगवद्भक्त वास्तव में *तुल्यार्थदर्शी*—अर्थात् एकत्व की दृष्टि से युक्त होता है। भक्त हर वस्तु को भगवान् की शक्ति के रूप में देखता है, अतएव भगवान् की तुष्टि के लिए वह हर वस्तु को भगवान् की सेवा में ही लगा देना चाहता है। चूँकि भक्त किसी वस्तु को *द्वितीय* अर्थात् भगवान् की शक्ति के क्षेत्र से बाहर नहीं देखता, अतएव हर अवस्था में वह सुखी रहता है। निजी कोई इच्छा न होने से कृष्ण-भक्त *शान्त* होता है, क्योंकि उसने जीवन की सिद्धि अर्थात् कृष्ण-प्रेम प्राप्त कर लिया होता है। वह वास्तव में सर्वशक्तिमान परमेश्वर कृष्ण की शरण एवं संरक्षण में होने से अपनी शाश्वत स्वाभाविक स्थिति में रहता है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार यह श्लोक नौ योगेन्द्रों में से प्रथम योगेन्द्र, कवि द्वारा महाराज निमि के प्रथम प्रश्न "सर्वोच्च शुभ क्या है?" के उत्तर से समाप्त होता है।

श्रीराजोवाच

अथ भागवतं ब्रूत यद्धर्मो यादृशो नृणाम् ।
यथाचरति यद्ब्रूते यैर्लिङ्गैर्भगवत्प्रिय: ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा ने कहा; अथ—इसके बाद; भागवतम्—भगवान् के भक्त के विषय में; ब्रूत—कृपया मुझे बतायें; यत्-धर्म:—जो धर्म है; यादृश:—जिस तरह का; नृणाम्—मनुष्यों में से; यथा—कैसे; आचरति—आचरण करता है; यत्—जो; ब्रूते—बोलता है; यै:—जिस; लिङ्गै:—दृश्य लक्षणों के द्वारा; भगवत्-प्रिय:—भगवान् का प्रिय (कहलाता है)।

महाराज निमि ने कहा : अब कृपया मुझे भगवद्भक्तों के विषय में विस्तार से बतलायें। वे कौन से सहज लक्षण हैं, जिनके द्वारा मैं अत्यन्त बढ़े-चढ़े, मध्यम स्तर के तथा नवदीक्षित भक्तों में अन्तर कर सकूँ? वैष्णव के लाक्षणिक धार्मिक कर्तव्य क्या हैं? और वह कैसे बोलता है?

आप विशेष रूप से उन लक्षणों तथा गुणों का वर्णन करें, जिनसे वैष्णवजन भगवान् के प्रिय बनते हैं।

तात्पर्य : महामुनि कवि ने राजा निमि को भगवद्भक्त के बाह्य सामान्य लक्षणों के विषय में—उसके स्वरूप, उसके गुणों तथा कर्मों के विषय में बतलाया। किन्तु अब राजा निमि पूछ रहे हैं कि भगवान् के सेवकों में उसके आगे किस तरह अन्तर किया जाये, जिससे प्रथम कोटि, द्वितीय कोटि तथा निम्न कोटि के वैष्णवों की स्पष्ट पहचान की जा सके।

श्रील रूप गोस्वामी के अनुसार—*कृष्णेति यस्य गिरि तं मनसाद्रियेत*—जो भक्त कृष्ण के पवित्र नाम का कीर्तन करता है, उसका मन से आदर करना चाहिए। (उपदेशामृत ५) कोई भी जीव जो कि कृष्ण के नाम का श्रद्धापूर्वक कीर्तन करता हो, उसे वैष्णव मानना चाहिए और कम से कम मन ही मन उसका आदर होना चाहिए। किन्तु कृष्णभावनामृत में व्यावहारिक प्रगति के लिए उसे कम से कम द्वितीय कोटि के भक्त की संगति करनी चाहिए। और यदि उसे भगवान् के उच्च कोटि के भक्त की दया प्राप्त हो सके, तो उसकी सिद्धि सरलता से निश्चित हो जाती है। इस प्रकार निमि महाराज विनयपूर्वक प्रश्न कर रहे हैं, "भक्तों के लक्षण, स्वभाव तथा वचन क्या हैं?" राजा शरीर, मन तथा वाणी के विशिष्ट लक्षणों को जानना चाहता है, जिससे *उत्तम अधिकारी, मध्यम अधिकारी* तथा *कनिष्ठ अधिकारी* की भिन्न भिन्न कोटियाँ स्पष्टत: पहचानी जा सकें। राजा के प्रश्न के उत्तर में नव-योगेन्द्रों में से दूसरा, जिसका नाम हविर् था, कृष्णभावनामृत के विज्ञान को आगे विस्तार से बतायेगा।

श्रीहविरुवाच
सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

श्री-हविः उवाच—श्री हविर् ने कहा; सर्व-भूतेषु—सारे पदार्थों में (पदार्थ, आत्मा तथा पदार्थ एवं आत्मा का मेल); यः—जो कोई; पश्येत्—देखता है; भगवत्-भावम्—भगवद्भक्ति में लगे रहने की क्षमता; आत्मनः—परमात्मा का, भौतिक जीवन-बोध से परे अध्यात्म; भूतानि—सारे जीवों को; भगवति—भगवान् में; आत्मनि—समस्त जगत का मूल सार; एषः—यह; भागवत-उत्तमः—भक्ति में बढ़ा-चढ़ा व्यक्ति।

श्री हविर् ने कहा : सर्वाधिक उत्कृष्ट भक्त हर वस्तु के भीतर समस्त आत्माओं के आत्मा भगवान् कृष्ण को देखता है। फलस्वरूप वह हर वस्तु को भगवान् से सम्बन्धित देखता है और यह समझता है कि प्रत्येक विद्यमान वस्तु भगवान् के भीतर नित्य स्थित है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (६.३०) में भगवान् कहते हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

"जो मुझे सर्वत्र देखता है और सबकुछ मुझमें देखता है उसके लिए न तो मैं कभी अदृश्य होता हूँ और न वह मेरे लिए अदृश्य होता है।" श्रील प्रभुपाद टीका करते हैं, "कृष्णचेतनामय व्यक्ति भगवान् कृष्ण को सर्वत्र देखता है और सारी वस्तुओं को कृष्ण में देखता है। ऐसा व्यक्ति भले ही प्रकृति की पृथक्-पृथक् अभिव्यक्तियों को देखता प्रतीत हो, किन्तु वह प्रत्येक दशा में इस कृष्णभावनामृत से अवगत रहता है कि प्रत्येक वस्तु कृष्ण की ही शक्ति की अभिव्यक्ति है। कृष्णभावनामृत का मूल सिद्धान्त ही यही है कि कृष्ण के बिना किसी का अस्तित्व नहीं है और कृष्ण ही सर्वेश्वर हैं।

ब्रह्म-संहिता (५.३८) में कृष्ण को सर्वत्र देखने की योग्यता बतलाई गई है—

प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन

सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।

यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणस्वरूपं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

"मैं उन आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ, जो उस भक्त द्वारा सदैव देखे जाते हैं, जिसकी आँखों में प्रेम का अंजन लगा हुआ रहता है। वे भक्त के हृदय के भीतर अपने नित्य श्यामसुन्दर स्वरूप में स्थित देखे जाते हैं।" उत्तम कोटि का भक्त अपनी आध्यात्मिक दृष्टि की व्यापकता के लिए प्रशंसित होता है। उदाहरणार्थ, जब महान् असुर हिरण्यकशिपु ने अपने स्वरूपसिद्ध पुत्र प्रह्लाद महाराज से भगवान् का अता-पता पूछा तो *महाभागवत* अर्थात् शुद्ध भक्त होने के नाते प्रह्लाद ने सीधे यही उत्तर दिया कि परमेश्वर सर्वत्र हैं। तब असुर पिता ने पूछा कि क्या वह ईश्वर महल के ख भे में हैं? जब प्रह्लाद ने "हाँ" कहा तो प्रामाणिक असुर होने के नाते हिरण्यकशिपु ने ईश्वर को मारने या कम से कम उसके अस्तित्व को झुठलाने के प्रयास में उस ख भे पर अपनी तलवार से प्रहार किया। तब भगवान् के सबसे भयंकर रूप नृसिंह देव तुरन्त प्रकट हुए और हिरण्यकशिपु के अवैध कार्यक्रम का सदा के लिये सफाया कर दिया। इस तरह प्रह्लाद महाराज को *उत्तम अधिकारी भक्त* माना जा सकता है।

शुद्ध भक्त भगवान् की सेवा से विलग रहकर वस्तुओं को भोगने की प्रवृत्ति से सर्वथा मुक्त होता है। वह ब्रह्माण्ड में किसी भी वस्तु को प्रतिकूल नहीं देखता, क्योंकि वह हर वस्तु को भगवान् की विस्तीर्ण शक्ति के रूप में देखता है। ऐसे भक्त का जीवित रहने का उद्देश्य किसी न किसी प्रकार से भगवान् को आनन्द प्रदान करना है। अतएव शुद्ध भक्त जिस जिस वस्तु का अनुभव करता है, वह प्रति-क्षण उसकी भावमय प्रेम-इच्छा को बढ़ाता है, जिससे भगवान् की दिव्य इन्द्रियाँ तुष्ट हो सकें।

भौतिक प्रकृति के तीन गुण उस बद्धजीव को सताते रहते हैं, जो भगवान् की पृथक् भौतिक शक्ति अर्थात् *भिन्न प्रकृति* में अपने मन को लीन करता है। इसका कार्य जीव को इस असलियत से दूर ले जाना है कि कृष्ण हर वस्तु के भीतर हैं और हर वस्तु कृष्ण के भीतर है। निपट अज्ञान के द्वारा आच्छादित होने से मोहग्रस्त बद्धजीव यह विश्वास करता है कि उसकी सीमित दृष्टि की ही वस्तुएँ वास्तव में विद्यमान हैं। कभी कभी ऐसे मूर्ख लोग यह सोचते हैं कि यदि जंगल में सुनने वाला कोई न हो, तो वृक्ष के गिरने से कोई ध्वनि नहीं होगी। ये बद्धजीव यह विचार नहीं करते कि चूँकि भगवान् सर्वव्यापी हैं, अतएव किसी के न सुनने का कोई प्रश्न ही नहीं है। भगवान् सदैव सुनते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* के तेरहवें अध्याय (१३.१४) में कहा गया है—*सर्वतः श्रुतिमल्लोके।* भगवान् हर बात को सुनते हैं। वे *उपद्रष्टा* हैं—प्रत्येक वस्तु के साक्षी हैं। (भगवद्गीता १३.२३)

इस श्लोक में आगत *भागवतोत्तमः* शब्द सूचित करता है कि ऐसे लोग भी हैं, जो निपट भौतिकतावादी नहीं हैं, किन्तु वे सबसे ऊँचे भक्त भी नहीं हैं। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार जो लोग भक्तों तथा अभक्तों में ठीक से भेद नहीं कर पाते और इसलिए शुद्ध भगवद्भक्तों की कभी पूजा नहीं करते वे *कनिष्ठ अधिकारी* कहलाते हैं। ऐसे लोग भगवान् की पूजा विशेषतया मन्दिर में करते हैं, किन्तु भगवद्भक्तों के प्रति उदासीन रहते हैं। इस तरह वे *पद्म पुराण* में शिव के इस कथन को ठीक से नहीं समझते—

आराधनानां सर्वेषांविष्णोराराधनं परम्।

तस्माद् परतरं देवि तदीयानां समर्चनम्॥

"हे देवि! पूजा की सर्वोत्तम विधि भगवान् विष्णु की पूजा है। इससे भी बड़ी है *तदीय* की पूजा अर्थात् विष्णु से सम्बन्धित किसी भी वस्तु की पूजा। श्रील प्रभुपाद ने इस श्लोक की टीका इस प्रकार

की है—"श्री विष्णु सच्चिदानन्द विग्रह हैं। इसी प्रकार कृष्ण का सबसे विश्वासपात्र सेवक, गुरु तथा विष्णु के सारे भक्त *तदीय* हैं। सच्चिदानन्द विग्रह, गुरु, वैष्णवजन तथा उनके द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली वस्तुओं को *तदीय* मानना चाहिए और बिना किसी सन्देह के वे सभी जीवों द्वारा पूजनीय होनी चाहिए।" (चैतन्य-चरितामृत मध्य १२.३८ तात्पर्य)

विशेषतया, कनिष्ठ अधिकारी अपनी भौतिकतावादी योग्यताओं को भगवान् की सेवा में लगाने के लिए उत्सुक रहता है और वह गलती से इसे ही उच्च भक्ति का संकेत मानता है। किन्तु भगवान् तथा भगवान् के मिशन का प्रचार कर रहे भक्त की सेवा करते हुए कनिष्ठ अधिकारी भी अपनी अनुभूति में अग्रसर होता है और अपने सारे कार्यों को अधिक प्रगत वैष्णवों की सहायता करने में समर्पित करने लगता है। ऐसे कनिष्ठ अधिकारी भी अपनी संगति से सामान्य जीवों की सहायता कर सकते हैं, क्योंकि कनिष्ठ अधिकारियों में कम से कम यह श्रद्धा तो रहती ही है कि कृष्ण भगवान् हैं। इसी श्रद्धा के कारण वह धीरे धीरे उनका शत्रु बन जाता है, जो कृष्ण के विरोधी हैं। ज्यों ज्यों वह क्रमश: भगवान् की श्रेष्ठता से घृणा करने वालों का अधिकाधिक शत्रु बनता जाता है और भगवान् के अन्य श्रद्धालु सेवकों के साथ मैत्री के प्रति अधिक आकृष्ट होता जाता है, त्यों त्यों वह कनिष्ठ अधिकारी द्वितीय कोटि की अवस्था को, जिसे *मध्यम* कहते हैं, पहुँच जाता है। इस मध्यम अवस्था में वैष्णव भगवान् को समस्त कारणों का कारण और हर एक की प्रेममयी लालसा के मुख्य लक्ष्य के रूप में देखता है। वह इस दूषित संसार में वैष्णवों को ही अपना एकमात्र मित्र मानता है और वह अबोध लोगों को वैष्णव समाज की शरण के अन्तर्गत लाने के लिए उत्सुक रहता है। यही नहीं, मध्यम अधिकारी उनकी संगति करने से बचता है, जो अपने आपको ईश्वर का शत्रु घोषित करते हैं। जैसे ही ऐसी मध्यम योग्यता परिपक्व हो जाती है, तो परम योग्यता का भाव स्वयं ही आने लगता है अर्थात् वह *उत्तम अधिकारी* अवस्था को प्राप्त होता है।

ऐसा *कनिष्ठ अधिकारी गुरु* जो धार्मिक उत्सव सम्पन्न करने तथा अर्चाविग्रह की पूजा करने में लगा रहता है और अन्य वैष्णवों की, विशेष रूप से उनकी, जो भगवान् के मिशन का प्रचार करने में लगे रहते हैं, प्रशंसा नहीं करता, वह उन लोगों को विशेष अच्छा लगेगा, जो ज्ञान के शुष्क अनुशीलन में रुचि रखते हैं। जब जीव सांसारिक शुद्धि विकसित कर लेता है, तो वह गर्व से नियमित कर्म करने

लगता है और अपने कर्म के फल से अपने को विरक्त करने लगता है। ऐसे विरक्त नियमित कर्म से क्रमशः ज्ञान या बुद्धिमत्ता का उदय होता है। जब यह ज्ञान प्रमुख हो उठता है, तो पुण्यात्मा भौतिकतावादी व्यक्ति परोपकारी एवं दानशील कार्यों के प्रति आकृष्ट होता है और पापकर्मों को त्याग देता है। यदि वह भाग्यशाली हुआ, तो वह दिव्य भगवद्भक्ति के अनुकूल बन जाता है। ऐसा व्यक्ति भक्ति के बौद्धिक ज्ञान की इच्छा से कनिष्ठ अधिकारी की शरण में जा सकता है। यदि वह मध्यम योग्यता प्राप्त कर लेता है, तो वह कृष्णभावनामृत के प्रचार-कार्य में लगे वैष्णव के प्रति आकृष्ट होता है। और जब वह मध्यम भक्ति के पद पर पूर्णतः परिपक्व हो जाता है, तो वह *महाभागवत* पद के प्रति आकृष्ट होता है और तब कृष्ण की कृपा से उसे अपने हृदय में महाभागवत गुरु की उच्च स्थिति का दर्शन होता है। यदि कोई व्यक्ति क्रमशः भगवद्भक्ति करता रहता है, तो वह *परमहंस महाभागवत* बन जाता है। इस अवस्था में उसके सारे कार्य, उसकी गतिविधियाँ तथा प्रचार-कार्य एकमात्र कृष्ण की तुष्टि में समर्पित रहते हैं। ऐसे शुद्ध जीव को गिराने की या उसे आच्छादित करने की शक्ति *माया* में नहीं रहती। *उपदेशामृत* (५) में श्रील रूप गोस्वामी ने जीवन की इस अवस्था को *भजनविज्ञमनन्यमन्यनिन्दादिशून्यहृदम्* कहा है।

चूँकि महाभागवत, भगवान् योगेश्वर द्वारा शक्तिप्रदत्त होता है, इसलिए उसमें अति-दैवी शक्ति होती है, जिससे वह *मध्यम अधिकारी* को, जो उसके चरणचिह्नों पर चलता है, प्रेरणा तथा सफलता प्रदान कर सकता है और कनिष्ठ अधिकारी को क्रमशः मध्यम पद पर ला सकता है। ऐसी भक्तिमयी शक्ति शुद्ध भक्त के हृदय में प्राप्य करुणा के सागर से स्वयमेव उत्पन्न होती है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इंगित किया है कि *महाभागवत* में भगवान् के शत्रुओं को दण्ड देने की इच्छा नहीं रहती। प्रत्युत वह मध्यम अधिकारियों तथा कनिष्ठ अधिकारियों को उन विरोधी जीवों की दूषित मनोवृत्ति को शुद्ध करने के लिए प्रचार-कार्य में लगाता है, जो इस भौतिक जगत को भ्रमवश कृष्ण से पृथक् मानते हैं।

ऐसे अभागे जीव हैं, जो भक्ति के क्षेत्र में *कनिष्ठ अधिकारी* की महिमा को नहीं समझ पाते, न ही *मध्यम अधिकारी* की उच्चतर अवस्था की प्रशंसा कर सकते हैं तथा *उत्तम अधिकारी* की उच्चतम अवस्था को समझ सकते हैं। ऐसे अभागे लोग निर्विशेष मायावाद चिन्तन के प्रति आकृष्ट होकर कंस,

अघ, बक तथा पूतना के चरणचिह्नों का पूर्णतया अनुसरण करते हैं और इस तरह श्री हरि द्वारा मारे जाते हैं। इस तरह इन्द्रिय योगियों का समुदाय भगवान् के चरणकमलों में अरुचि रखे रहता है। तथाकथित स्वार्थ से विकृत अपनी दृष्टि के अनुसार प्रत्येक भौतिकतावादी विभिन्न योनियों में बारम्बार जन्म तथा मृत्यु के रूप में अपने दुर्भाग्य का चुनाव करता है। ऐसी ८४,००,००० योनियाँ हैं और भौतिकतावादी जीव तथाकथित भौतिक प्रगति के भ्रमवश अपने लिए जन्म, जरा, व्याधि तथा मृत्यु को दण्ड के रूप में स्वेच्छा से चुन लेता है।

यहाँ पर दृष्टान्त दिया गया है कि कामेच्छा के वशीभूत कामी पुरुष सारे जगत को कामुक स्त्रियों से पूर्ण देखता है। इसी तरह कृष्ण का शुद्ध भक्त सर्वत्र कृष्णभावनामृत का दर्शन करता है, भले ही वह अस्थायी रूप से आच्छादित क्यों न हो। इस तरह कोई मनुष्य अपनी ही तरह विश्व को देखता है (*आत्मवन् मन्यते जगत्*)। इस आधार पर यह तर्क किया जा सकता है कि महाभागवत की भी दृष्टि मोहित हो सकती है, क्योंकि *श्रीमद्भागवत* में सर्वत्र यह बात दुहराई गई है कि प्रकृति के गुणों से बद्ध लोग तनिक भी कृष्णभावनाभावित नहीं होते, अपितु वे कृष्ण के शत्रुवत् हैं। किन्तु भले ही बद्धजीव भगवान् के शत्रुवत् प्रतीत हों, तो भी यह तो शाश्वत अपरिवर्तनशील तथ्य है कि प्रत्येक जीव कृष्ण का भिन्नांश है। मनुष्य का कृष्ण के प्रति भावमय प्रेम भले ही अभी माया के प्रभाव से आच्छादित हो, किन्तु भगवान् की अहैतुकी कृपा से बद्धजीव क्रमश: कृष्णभावनामृत के पद को प्राप्त कर लेगा।

वस्तुत: हर व्यक्ति कृष्ण-विछोह की पीड़ा से त्रस्त है। चूँकि बद्धजीव यह कल्पना करता है कि कृष्ण से उसका नित्य सम्बन्ध नहीं है, किन्तु वह यह निश्चित नहीं कर पाता कि उसके सारे कष्ट इसी विछोह के कारण हैं। यही *माया* है—अर्थात् ''वह जो नहीं है''। वस्तुत: यह सोचना कि दुख का कारण कृष्ण-विछोह के अतिरिक्त अन्य कुछ है, निरी भ्रान्ति है। अतएव जब शुद्ध भक्त जीवों को इस जगत में कष्ट भोगते देखता है, तो वह यह ठीक सोचता है कि जिस तरह मैं कृष्ण-विछोह के कारण कष्ट पा रहा हूँ, उसी तरह अन्य सारे जीव भी कृष्ण-विछोह के कारण कष्ट पा रहे हैं। अन्तर इतना ही है कि शुद्ध भक्त अपनी हृदय-वेदना के कारण को ठीक तरह से निश्चित कर पाता है, जबकि बद्धजीव माया द्वारा मोहित होने से कृष्ण के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को तथा इस सम्बन्ध की उपेक्षा से उत्पन्न असीम पीड़ा को नहीं समझ पाता।

श्रील जीव गोस्वामी ने निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किये हैं, जो भगवान् के सर्वोच्च भक्तों के प्रेममय भावों को प्रस्तुत करने वाले हैं। *श्रीमद्भागवत* के दसवें स्कन्ध (१०.३५.९) में व्रजदेवियाँ इस प्रकार कहती हैं :

वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं

व्यञ्जयन्त्य इव पुष्पफलादया: ।

प्रणत भारविटपा मधुधारा:

प्रेमहृष्टतनवो ववृषु: स्म ॥

"वन की लताएँ तथा वृक्ष फूलों तथा फलों के पूरे भार से अवनत होकर ऐसे लग रहे थे, मानों अपने हृदयों के भीतर भगवान् विष्णु को प्रकट कर रहे हों। अपने शरीरों से रसोद्रेक प्रकट करते हुए वे मधु की वर्षा कर रहे थे।" दसवें स्कंध में ही अन्यत्र (भागवत १०.२१.१५) कहा गया है—

नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीतम्

आवर्तलक्षितमनोभवभग्नवेगा: ।

आलिंगनस्थगितम् ऊर्मिभुजैर्मुरारे-

र्गृहणन्ति पादयुगलं कमलोपहारा: ॥

"मुकुन्द की वंशी की तान सुनकर नदियों ने बहना बन्द कर दिया, यद्यपि भँवरों की उपस्थिति से नदियों के हृदयों को अब भी निश्चित किया जा सकता था। नदियों ने अपनी लहरों रूपी भुजाओं से कमलों के पौधों का सहारा लेकर मुरारी के दोनों चरणकमल पकड़ लिये और इस तरह वे उनके आलिंगन में बद्ध हो गए।" दसवें स्कन्ध के अन्तिम अध्याय (१०.९०.१५) में द्वारका की रानियाँ प्रार्थना करती हैं—

कुररि विलपसि त्वं वीतनिद्रा न शेषे

स्वपिति जगति रात्र्यामीश्वरो गुप्तबोध: ।

वयमिव सखि कच्चिद् गाढनिर्विद्धचेता

नलिननयनहासोदारलीलेक्षितेन ॥

''हे *कुररी!* अब बहुत रात हो गई। हर कोई सो रहा है। सारा संसार शान्त है। इस समय भगवान् सो रहे हैं, यद्यपि उनका ज्ञान किसी भी परिस्थिति में अविचलित रहता है, तो फिर तुम क्यों नहीं सोती? तुम इस तरह सारी रात क्यों विलाप कर रही हो? प्रिय सखी! कहीं ऐसा तो नहीं है कि तुम भी हमारी ही तरह भगवान् के कमल-नेत्रों द्वारा, उनकी मीठी मुसकान तथा आकर्षक शब्दों से आकृष्ट हो? क्या भगवान् के वे व्यवहार तुम्हारे हृदय को उसी तरह कोंच रहे हैं, जिस तरह हमारे हृदयों को कोंचते हैं?'' श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने भी माता यशोदा को *उत्तम अधिकारी* के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है, क्योंकि माता यशोदा ने भगवान् की वृन्दावन-लीला के समय कृष्ण के मुख के भीतर सारे जीवों को देखा था।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने अपनी टीका में यह भी इंगित किया है—*अत्र पश्येदिति तथा दर्शनयोग्यतैव विवक्षिता, न तु तथा दर्शनस्य सार्वकालिकता।* ''इस श्लोक में *पश्येत्* शब्द का अर्थ यह नहीं है कि कोई हर क्षण कृष्ण के स्वरूप को देख रहा है, प्रत्युत इसका अर्थ यह है कि उसे भक्ति का उच्च पद प्राप्त हो चुका है, जिस पर वह कृष्ण के रूप को देख सकता है या देख पाने में समर्थ है।'' यदि केवल वे जो कृष्ण के स्वरूप को निरन्तर देखते हैं *उत्तम अधिकारी* माने जाँय तब तो नारद, व्यास तथा शुकदेव को सर्वोच्च भक्त नहीं माना जा सकता, क्योंकि वे भगवान् को सदैव सर्वत्र नहीं देखते। निस्सन्देह, नारद, व्यास तथा शुकदेव को शुद्ध भक्ति का सर्वोच्च मानदण्ड माना जाता है, अतएव असली योग्यता *तद्दिदृक्षाधिक्य* है अर्थात् भगवान् को देखने की भावविह्वलता है। अतएव *भगवद्गीता* के इस कथन को कि भक्त को कृष्ण का सर्वत्र दर्शन करना चाहिए (*यो मां पश्यति सर्वत्र*) उस कामी पुरुष के उदाहरण के रूप में माना जा सकता है, जो सारे जगत को सुन्दर स्त्रियों से पूर्ण मानता है। इसी तरह मनुष्य को भगवान् का दर्शन करने के लिए आध्यात्मिक दृष्टि से इतना उत्सुक होना चाहिए कि वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में कृष्ण तथा उनकी शक्ति के अतिरिक्त अन्य कुछ भी न देख सके। *वासुदेवः सर्वमिति।* १९६९ में श्रील प्रभुपाद ने कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के प्रोफेसर जे. एफ. स्टाल के साथ हुए पत्र-व्यवहार में यह दावा किया था उनके सारे शिष्य, जो कृष्णभावनामृत के गहन कार्यक्रम का कड़ाई से पालन कर रहे थे, वास्तव में *सुदुर्लभ महात्मा थे,* जो *वासुदेवः सर्वम्* का दर्शन कर रहे थे। दूसरे शब्दों में, यदि कोई भगवान् को प्रसन्न करने की तीव्र इच्छा से कृष्णभावनामृत में निरंतर लगा

रहता है और किसी दिन उनका सान्निध्य प्राप्त कर लेता है, तो यह समझना होगा कि उसके जीवन में कृष्ण के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। किन्तु श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने हमें आगाह किया है कि सिद्धान्त रूप में या शैक्षिक रूप से यह समझ लेने से ही कि कृष्ण ही सर्वेसर्वा हैं, कोई उत्तम भक्त नहीं बन जाता। उसमें सचमुच कृष्ण के प्रति प्रेम उत्पन्न हुआ रहना चाहिए। अतएव यह लगभग समझ लेना चाहिए कि जो कोई भी उत्साहपूर्वक कृष्णभावनामृत कार्यक्रम को अपनाता है और अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत समिति के प्रचार-कार्य में उत्सुकता से हाथ बँटाता है, वह *मध्यम अधिकारी* भक्त के पद पर कार्य करता है। जब ऐसा भक्त कृष्ण की सेवा करने तथा उनकी संगति करने की इच्छा से अभिभूत हो जाता है, यहाँ तक कि वह इस ब्रह्माण्ड में अन्य किसी वस्तु के प्रति आकृष्ट नहीं होता, तो उसे *उत्तम अधिकारी* वैष्णव मानना चाहिए, जैसाकि इस श्लोक में उल्लेख हुआ है।

ईस्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च ।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

ईश्वरे—भगवान् के प्रति; तत्-अधीनेषु—कृष्णभावनामृत के प्रति समर्पित लोगों को; बालिशेषु—अज्ञानी या नवदीक्षितों के प्रति; द्विषत्सु—कृष्ण तथा उनके भक्तों से द्वेष रखने वालों के प्रति; च—तथा; प्रेम—प्रेम; मैत्री—मित्रता; कृपा—दया; उपेक्षाः—उपेक्षा; यः—जो कोई; करोति—करता है; सः—वह; मध्यमः—द्वितीय कोटि का भक्त।

द्वितीय कोटि का भक्त, जो मध्यम अधिकारी कहलाता है, भगवान् को अपना प्रेम अर्पित करता है, वह भगवान् के समस्त भक्तों का निष्ठावान मित्र होता है, वह अज्ञानी व्यक्तियों पर दया करता है जो अबोध है और उनकी उपेक्षा करता है, जो भगवान् से द्वेष रखते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* के अनुसार इस भौतिक जगत का प्रत्येक जीव भगवान् का सूक्ष्म अंश होता है। *ममैवांशो जीवलोके जीवभूताः सनातनः* (भगवद्गीता १५.७)। किन्तु माया के वशीभूत गर्वित बद्धजीव भगवान् की सेवा से तथा भगवान् के भक्तों से शत्रुता रखते हैं, वे भौतिकतावादी विषयी पुरुषों को अपना नेता चुनते हैं और इस तरह वंचकों तथा वंचितों के व्यर्थ समाज में व्यस्त रहते हैं, जिसमें एक अंधा व्यक्ति दूसरे अंधे को खाई में ले जाता है। यद्यपि वैष्णव समुदाय बद्धजीवों को उनकी स्वाभाविक वैधानिक स्थिति में लाने के लिए उत्सुक है, किन्तु भौतिकतावादी जीव माया के प्रभाव से निष्ठुर हो जाता है और भगवद्भक्तों की कृपा को ठुकरा देता है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार यद्यपि मध्यम अधिकारी भक्त अबोध बद्धजीवों को उपदेश देने के लिए उत्सुक रहता है, किन्तु उसे नास्तिक व्यक्तियों से बचना चाहिए, जिससे वह उनकी संगति से स्वयं क्षुब्ध या दूषित न हो। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने पुष्टि की है कि वैष्णव को उन लोगों के प्रति उदासीन रहना चाहिए, जो भगवान् से ईर्ष्या करते हैं। यह प्राय: देखा जाता है कि जब ऐसे व्यक्तियों को भगवान् की महिमाओं की जानकारी दी जाती है, तो वे भगवान् का उपहास करने की चेष्टा करते हैं और इस तरह वे अपने दूषित जीवन को और भी बिगाड़ लेते हैं। इस सन्दर्भ में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *श्रीमद्‌भागवत* का निम्नलिखित श्लोक (१०.२०.३६) उद्‌धृत किया है—

गिरयो मुमुचुस्तोयं क्वचिन्न मुमुचुः शिवम्।

यथा ज्ञानामृतं काले ज्ञानिनो ददते न वा॥

''कभी कभी शीत ऋतु में जल पर्वतों की चोटियों से गिर कर शुद्ध जल प्रदान करता है और कभी कभी यह जल रुक जाता है। इसी प्रकार सन्त-पुरुष कभी तो शुद्ध ज्ञान का वितरण करते हैं और कभी मौन हो जाते हैं।''

इस सन्दर्भ में श्रील जीव गोस्वामी ने उल्लेख किया है कि यद्यपि उत्तम अधिकारी भक्त कभी कभी ऊपर से असुरों के प्रति घृणा प्रदर्शित कर सकते हैं, क्योंकि वे भगवान् की लीला के रस में प्रविष्ट रहते हैं, किन्तु मध्य अधिकारी को ऐसे भावों से बचना चाहिए। यही नहीं, मध्य अधिकारी को चाहिए कि वह कभी भी शक्तिशाली नास्तिक श्रेणी के मनुष्यों की संगति न करे, क्योंकि इसका खतरा रहता है कि ऐसी संगति से उसका मन मोहग्रस्त हो सकता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार यदि कोई वैष्णव प्रचारक ऐसे व्यक्ति से आकस्मिक मिलता है, जो उससे ईर्ष्या करता है, तो उसे चाहिए कि वह ऐसे व्यक्ति से दूर रहे। किन्तु वैष्णव प्रचारक ईर्ष्यालु व्यक्तियों को बचाने की विधियों पर चिन्तन करने लग सकता है। ऐसा चिन्तन *सदाचार* कहलाता है। श्रील जीव गोस्वामी ने प्रह्लाद महाराज को सदाचारी मनुष्य का उदाहरण कहा है। *श्रीमद्‌भागवत* (७.९.४३) में प्रह्लाद का निम्नलिखित वक्तव्य प्राप्त है—

नैवोद्विजे पर दुरत्ययवैतरण्या

स्त्वद्वीर्यगायनमहामृतमग्नचित्त: ।

शोचे ततो विमुखचेतस इन्द्रियार्थ-

मायासुखाय भरमुद्वहतो विमूढान्॥

"हे सर्वश्रेष्ठ महापुरुष! मैं संसार से तनिक भी भयभीत नहीं हूँ, क्योंकि मैं जहाँ कहीं भी रहता हूँ आपकी महिमा तथा कार्यों के विचार में ही लीन रहता हूँ। मेरी चिन्ता तो केवल उन मूर्खों तथा धूर्तों के लिए है, जो भौतिक सुख के लिए और अपने परिवारों, समाजों तथा देशों का पालन-पोषण करने के लिए विस्तृत योजनाएँ बनाते हैं। मैं केवल उनके प्रेम के विषय में चिन्तित रहता हूँ।" यद्यपि वैष्णव उपदेशक समस्त जीवों के कल्याण के विषय में निरन्तर चिन्तन करता रहता है, किन्तु वह उनकी संगति कभी नहीं करता, जो भगवान् कृष्ण के सन्देश को ग्रहण करना नहीं चाहते। इस सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि भरत महाराज, व्यासदेव तथा शुकदेव गोस्वामी भी मनमाने ढंग से कृपा प्रदर्शित नहीं करते।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने यह सिद्ध करने के लिए विस्तृत व्याख्या की है कि मध्यम अधिकारी उपदेशक द्वारा प्रयुक्त भेदभाव में कृपा का अभाव नहीं दिखता। वे कहते हैं कि इस श्लोक में उल्लिखित *उपेक्षा* उन लोगों के लिए उचित ओषधि है, जो भगवान् तथा उनके भक्तों से शत्रुता रखते हैं। उपदेशक द्वारा प्रदर्शित उदासीनता दोनों पक्षों की शत्रुता को रोकती है। यद्यपि यह वैदिक आदेश है कि जो व्यक्ति भगवान् तथा उनके भक्तों का अपमान करे उसकी जीभ काट ली जाय, किन्तु इस युग में ऐसे भावी अपराधियों से बच कर रहना ही सर्वोत्तम है। इस तरह वे वैष्णवों के साथ और अधिक पापपूर्ण कृत्य नहीं कर सकेंगे। वैष्णव उपदेशक का यह कर्तव्य है कि परमेश्वर की शरण में जाने के अतिरिक्त अन्य किसी भी विधि की व्यर्थता बतलाये। किन्तु ईर्ष्यालु पुरुष वैष्णव द्वारा ऐसे प्रबल उपदेश-कार्य का विरोध करेगा और भक्त का अन्यों की व्यर्थ आलोचना करने के लिए अनादर करेगा। ऐसा व्यक्ति जो वैष्णव की कृपा की प्रशंसा न कर सके, उसकी उपेक्षा करनी चाहिए। अन्यथा, श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार उसकी ठगी मनोवृत्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ती जायेगी।

जो लोग श्री चैतन्य महाप्रभु के संकीर्तन आन्दोलन के प्रति आकृष्ट नहीं होते और चैतन्य महाप्रभु के निष्ठावान सेवकों का अनादर करते हैं, क्योंकि वे उनके संकीर्तन-आन्दोलन से सम्बन्धित शक्तिशाली कथनों को अपनी भगवद्भक्ति में रुकावट समझते हैं, वे कभी भी अपने मन को कृष्ण में स्थिर नहीं कर पायेंगे, अपितु वे भक्ति के मार्ग से नीचे गिर जायेंगे, क्योंकि उन्हें भौतिक जगत के बाह्य

क्रियाकलापों में भगवान् कृष्ण की वास्तविक पूजा का भ्रम रहता है। ऐसे मोह को *भयं द्वितीयाभिनिवेशत: स्यात्* शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर उन मूर्ख व्यक्तियों का प्रबल बहिष्कार करते हैं, जो कृपा तथा समदृष्टि के तर्क के आधार पर यह अनुभव करते हैं कि श्रद्धाविहीन व्यक्ति भी भगवान् का भक्त है और जो इस तरह से ऐसे अपराधी लोगों पर हरिनाम थोपने का प्रयास करते हैं। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ने कहा है ''जब बचकाने लोग अपने को *महाभागवत* मानकर वैष्णव गुरु की आज्ञा का उल्लंघन करते हैं, तो ऐसा आचरण उन्हें वैष्णव गुरु की दया का पात्र नहीं बनने देता। मिथ्या अहंकार से मोहित ये आत्मविज्ञापित भक्त मध्यम अधिकारियों द्वारा उपेक्षित समझे जाने के योग्य हो जाते हैं और उस कृपा से वंचित रह जाते हैं, जो भक्तों की तुष्टि से मिलती है। इस तरह वे कृष्ण-नाम का प्रचार करने वाले भक्तों के प्रति लगातार अपराध करते रहने से असाधु बन जाते हैं। इसलिए शुद्ध भक्त सभी परिस्थितियों में अपने को मिथ्या में *विशुद्ध भक्त* घोषित करने वालों से उदासीन रहने लगते हैं। यह उदासीनता ही उनकी कृपा की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति है।'' दूसरे शब्दों में, जो लोग मध्यम अधिकारियों की आलोचना भगवान् की कृपा प्राप्त करने के पात्र और भगवान् के ईर्ष्यालुओं में अन्तर करने के कारण करते हैं, वे भगवान् के सन्देश को गलत समझते हैं। कृष्ण ने *भगवद्गीता* (४.८) में कहा है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

''पुण्यात्माओं का उद्धार करने और दुष्टों का संहार करने तथा धर्म के सिद्धान्तों को पुन: स्थापित करने के लिए ही मैं हर युग में अवतरित होता हूँ।'' इस ब्रह्माण्ड के बारह महाजनों में से एक परम वैष्णव शुकदेव गोस्वामी तक ने दुष्ट कंस के प्रति घृणा व्यक्त की है।

श्रील जीव गोस्वामी ने इंगित किया है कि भले ही महाभागवत-भक्त उपदेश देने के लिए द्वितीय श्रेणी के स्तर का कार्य करे, किन्तु उसके द्वारा ईर्ष्यालु जीवों का परित्याग उसके द्वारा भगवान् को सर्वव्यापी रूप में देखने में बाधक नहीं बनता। प्रत्युत जब उत्तम अधिकारी या मध्यम अधिकारी भी नास्तिक लोगों का बहिष्कार करता है, तो वह भगवान् के सन्देश को ही व्यक्त करता है। उत्तम या

मध्यम अधिकारी वैष्णव कभी भी दूसरे जीव से ईर्ष्या नहीं करता, किन्तु भगवान् के प्रति उत्कट प्रेम के कारण वह तब क्रुद्ध होता है, जब भगवान् का अपमान होता है। यही नहीं, भगवान् के सन्देश को समझते हुए वह विशेष जीव के पद के अनुसार भेदभाव बरतता है। ऐसे वैष्णव उपदेशक को सामान्य, ईर्ष्यालु व्यक्ति समझना या इसलिए सम्प्रदायवादी समझना कि वह आध्यात्मिक प्रगति के सभी साधनों से शुद्ध भक्ति को सर्वश्रेष्ठ बतलाता है, भौतिकतावादी दृष्टि का द्योतक है, जिसे *वैष्णवे जातिबुद्धि:* या *गुरुषु नरमति:* कहते हैं। ऐसा अपराध अपराधी को प्रकृति के नियमों द्वारा नारकीय जीवन में धकेल देता है।

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार यद्यपि महाभागवत हर जीव को शुद्ध आत्मा मानता है फिर भी ऐसा महाभागवत जब किसी अन्य वैष्णव से मिलता है, तो उसे विशेष आनन्दमय भावों तथा लक्षणों की अनुभूति होती है। यह सर्वोच्च भक्त के रूप में उसकी दृष्टि के विरुद्ध नहीं है, प्रत्युत कृष्ण के प्रति उसके प्रेम का प्रतीक है। शुद्ध भक्त हर जीव को कृष्ण के भिन्नांश रूप में देखता है, अतएव कृष्ण के सारे अंशों तथा सृष्टियों के लिए प्रेम के माध्यम से कृष्ण के प्रति अपना प्रेम व्यक्त करता है। तो भी ऐसा महाभागवत दूसरे जीव को भगवान् की इन्द्रियों को प्रसन्न करते देखकर विशेष भावमय प्रेम (रस) का अनुभव करता है। ऐसी भावनाएँ प्रचेताओं से शिवजी के कथन द्वारा प्रकट होती हैं—

क्षणार्धेनापि तुलये न स्वर्गं नापुनर्भवम्।

भगवत्संगिसंगस्य मर्त्यानां किं उताशिष: ॥

''यदि संयोगवश किसी भक्त की संगति आधे क्षण के लिए भी मिल जाती है, तो मनुष्य कर्म या ज्ञान के फलों से आकृष्ट नहीं होता। तो भला उसे उन देवताओं के वरों में क्या रुचि हो सकती है, जो जन्म तथा मृत्यु के नियमों से बँधे हैं? (भागवत ४.२४.५७) इसी प्रकार शिवजी ने भी कहा है—

अथ भागवता यूयं प्रिया: स्थ भगवान् यथा।

न मद् भागवतानां च प्रेयान् अन्योऽस्ति कर्हिचित् ॥

''तुम सब भगवद्भक्त हो, अतएव मैं समझता हूँ कि तुम लोग साक्षात् भगवान् की तरह आदरणीय हो। मैं जानता हूँ कि इस तरह भक्तगण मेरा भी आदर करते हैं और मैं उन्हें प्रिय हूँ। इस तरह भक्तों को कोई अन्य उतना प्रिय नहीं, जितना मैं हूँ।'' (भागवत ४.२४.३०) इसी तरह

श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध (१.७.११) में श्रील शुकदेव गोस्वामी को *नित्यं विष्णुजनप्रिय:* कहा गया है।

सर्वोच्च पद पर वैष्णवों के मध्य प्रेमपूर्ण बर्तावों का प्रदर्शन *चैतन्य-चरितामृत* की लीलाओं में मिलता है। दूसरे शब्दों में, यद्यपि वैष्णव हर जीव को कृष्ण के भिन्नांश रूप में देखता है, किन्तु उसे अपने बाह्य आचरण में भेदभाव करना चाहिए, जिससे भगवान् की सृष्टि के मूल उद्देश्य में कोई व्यवधान न आये—यह उद्देश्य है जीवों का सुधार करना, जिससे वे क्रमश: भगवद्धाम वापस जा सकें। शुद्ध भक्त समदृष्टि का मूर्खता से दिखावा करके ईर्ष्यालु व्यक्तियों के पास नहीं जाता, प्रत्युत वह भगवान् के उद्देश्य का आदर करता है, जैसाकि *भगवद्गीता* (४.११) में *ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्* शब्दों द्वारा व्यक्त हुआ है।

दूसरी ओर, यदि भगवान् की इच्छा हो, तो शुद्ध भक्त सारे जीवों को आदर प्रदान कर सकता है। उदाहरणार्थ, श्रील जीव गोस्वामी बतलाते हैं कि उद्धव तथा भगवान् के अन्य भक्त दुर्योधन जैसे व्यक्तियों को भी नमस्कार करने के लिए सदैव तैयार रहते थे। किन्तु मध्यम अधिकारियों को उत्तम अधिकारियों के ऐसे आचरण की नकल नहीं करनी चाहिए। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने उत्तम तथा मध्यम अधिकारियों का अन्तर इस प्रकार बतलाया है—*अत्र सर्वभूतेषु, भगवद्दर्शनयोग्यता यस्य कदचिदपि न दृष्टा। मध्यम अधिकारी* कभी भी सारे जीवों के भीतर भगवान् की स्थिति का अनुभव नहीं कर पाता, जबकि उत्तम अधिकारी भगवान् के उद्देश्य को पूरा करने के लिए मध्यम पद पर कार्य करते हुए भी यह जानता रहता है कि प्रत्येक जीव अन्तत: विस्मरण करने वाला कृष्णभावनाभावित जीव है। अतएव बाहर से भक्त चाहे चार प्रकार के आचरणों में लगा रहे, जैसाकि इस श्लोक में उल्लेख हुआ है—अर्थात् भगवान् की पूजा, भक्तों से मैत्री, अबोध को उपदेश देना तथा असुरों का बहिष्कार—किन्तु यह निश्चित नहीं कि वह मध्यम पद पर हो, क्योंकि उत्तम अधिकारी भी भगवान् के उद्देश्य को पूरा करने के लिए इन लक्षणों को प्रकट कर सकता है। इस सम्बन्ध में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर बतलाते हैं कि मध्यम अधिकारी अपने को उत्तम अधिकारी का दाहिना हाथ समझे और अन्यों के लाभ हेतु कर्म करने का तथा कृष्ण-प्रेम वितरित करने में सहायता करने का व्रत ले।

अन्त में, श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ने *अर्चन* तथा *भजन* के अन्तर की सुन्दर व्याख्या की है। *अर्चन* द्योतक है *साधन-भक्ति* पद का, जिसमें मनुष्य विधि-विधानों का पालन करने के लिए भगवान् की सेवा करता है। जिसने भगवन्नाम् की शरण प्राप्त कर ली है और जो भगवान् की सेवा करने में पूरी तरह लगा रहता है, उसे *भजन* के पद पर मानना चाहिए, यद्यपि उसके बाह्य कार्यकलाप अर्चन में लगे नवदीक्षित के कार्यकलापों से कभी कभी कम कठोर होते हैं। तथापि ऊपरी तौर पर यह कड़ाई का अभाव शिथिलता का द्योतक है जो बुद्धिपरता के बर्ताव के मूल सिद्धान्तों और इन्द्रियतृप्ति की विरक्ति में नहीं वरन् वैष्णव अनुष्ठानों के विवरणों से होती है।

अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते ।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥ ४७॥

शब्दार्थ

अर्चायाम्—अर्चाविग्रह के; एव—निश्चय ही; हरये—भगवान् हरि को; पूजाम्—पूजा; यः—जो; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; ईहते—लगाता है; न—नहीं; तत्—कृष्ण के; भक्तेषु—भक्तों के प्रति; च—तथा; अन्येषु—सामान्य लोगों के प्रति; सः—वह; भक्तः प्राकृतः—भौतिकतावादी भक्त; स्मृतः—कहलाता है।

जो भक्त मन्दिर में अर्चाविग्रह की श्रद्धापूर्वक पूजा में लगा रहता है, किन्तु अन्य भक्तों के प्रति या सामान्य जनता के प्रति उचित रीति का आचरण नहीं करता, वह प्राकृत भक्त अर्थात् भौतिकतावादी भक्त कहलाता है और निम्नतम पद पर स्थित माना जाता है।

तात्पर्य : श्रील मध्वाचार्य की टीका है कि भक्ति की निम्नतम अवस्था को प्राप्त व्यक्ति मन्दिर में अर्चाविग्रह की श्रद्धापूर्वक पूजा करता है, किन्तु वह यह नहीं जानता कि भगवान् सचमुच सर्वव्यापी हैं। यही मनोवृत्ति पाश्चात्य देशों में देखी जा सकती है, जहाँ लोग अपने घरों में तथा बाजारों में सभी तरह के पाप करते हैं, किन्तु पवित्र बन कर गिरजाघर जाते हैं और कृपा के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं। वास्तव में, ईश्वर हमारे घर में हैं, ईश्वर बाजार में हैं, ईश्वर हमारे कार्यालय में हैं, जंगल में हैं, सर्वत्र हैं, अतएव भक्तियोग द्वारा ईश्वर के चरणकमलों की सर्वत्र पूजा की जानी चाहिए। जैसाकि इस अध्याय के ४१वें श्लोक में कहा गया है—

खं वायुमग्नि सलिलं महीं च

ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।

सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं

यत् किं च भूतं प्रणमेदनन्य: ॥

''भक्त को चाहिए कि किसी भी वस्तु को भगवान् कृष्ण से पृथक् नहीं देखे। शून्य, अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी, सूर्य तथा अन्य नक्षत्र, सारे जीव, दिशाएँ, वृक्ष, अन्य पौधे, नदियाँ तथा समुद्र—इनमें से जिस जिसका भक्त को अनुभव हो, वह उसे कृष्ण का अंश माने। इस प्रकार सृष्टि के भीतर विद्यमान हर वस्तु को भगवान् के शरीर के रूप में देखते हुए भक्त को चाहिए कि भगवान् के शरीर के सम्पूर्ण विस्तार के प्रति नमस्कार करे।'' भगवान् के महाभागवत भक्त की दृष्टि यही है।

श्रील मध्वाचार्य कहते हैं कि मध्यम अधिकारी भगवान् को सभी कारणों के कारण के रूप में देखता है और इसीलिए भगवान् के प्रति अपना प्रेम व्यक्त करता है। ऐसा भक्त अन्य भक्तों का सच्चा मित्र होता है, अज्ञानियों पर दयालु होता है और नास्तिकों से दूर रहता है। फिर भी, *तद्वशत्वं न जानाति सर्वस्य जगतोऽपि तु*—भगवान् के सर्वव्यापी तत्त्व के विषय में उसकी अनुभूति अपूर्ण होती है। यद्यपि उसे इस बात का सामान्य ज्ञान होता है कि अन्तत: हर व्यक्ति को भगवान् का भक्त होना है, और वह प्रत्येक वस्तु को कृष्ण की सेवा में, यह जानते हुए कि प्रत्येक वस्तु भगवान् की है, लगाने का प्रयास करता है। संभव है कि नास्तिकों की संगति के फलस्वरूप वह संभ्रमित हो जाए।

श्रील मध्वाचार्य कहते हैं—*अचार्यामेव संस्थितम्। विष्णुं ज्ञातवा तदन्यत्र नैव जानाति य: पुमान्। कनिष्ठ अधिकारी* को यह अनुमान नहीं रहता कि भगवान् में गिरजाघर या मन्दिर के बाहर विद्यमान रहने की शक्ति होती है। यही नहीं, वह अपनी विधानपूर्ण पूजा से गर्वित होकर (*आत्मनो भक्तिदर्पत:*) यह कल्पना नहीं कर पाता कि उससे भी बढ़कर कोई पुण्यात्मा या धार्मिक है। उसे यह पता भी नहीं रहता कि अन्य भक्त उससे भी बड़े भक्त हैं। इस तरह वह भक्ति के *मध्यम* या *उत्तम* स्तर को नहीं समझ पाता और कभी कभी अपने मिथ्या अहंकार के वशीभूत होकर वह भगवान् के उच्च भक्तों की आलोचना करता है, उनकी उपेक्षा करता है या प्रचारक अथवा पूर्ण स्वरूपसिद्ध होने के उनके पदों का उसे कोई ज्ञान नहीं रहता।

कनिष्ठ अधिकारी का दूसरा लक्षण यह है कि वह तथाकथित महान् भौतिकतावादी पुरुषों की भौतिक योग्यताओं पर मुग्ध रहता है। देहात्म-बुद्धि से युक्त होने से वह भौतिक ऐश्वर्य द्वारा आकृष्ट होता है और इस तरह वह भगवान् विष्णु के पद को निम्न बनाता है। इसलिए ऐसा कनिष्ठ अधिकारी

विचलित हो उठता है, यदि मध्यम अधिकारी भगवान् के अभक्तों की आलोचना करता है। दया या करुणा के नाम पर कनिष्ठ अधिकारी ऐसे भौतिकतावादी व्यक्तियों के अभक्तिपूर्ण कार्यों की संपुष्टि करता है। चूँकि कनिष्ठ अधिकारी भक्ति के उच्च लोक से तथा कृष्णभावनामृत के असीम दिव्य आनन्द से अनजान रहता है, अतएव वह भक्ति को जीवन के धार्मिक पक्ष के रूप में देखता है, किन्तु यह सोचता है कि जीवन में अनेक भोग्य तथा उचित अभक्तिपूर्ण पहलू हैं। इसलिए जब कृष्ण को ही सर्वस्व मानने वाला कोई मध्यम अधिकारी अभक्तों की आलोचना करता है, तो वह क्रुद्ध हो उठता है। मध्वाचार्य कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति को कृष्ण में उसकी प्रारम्भिक श्रद्धा के कारण भक्त माना जाता है, किन्तु यह *भक्ताधम* अर्थात् निम्नतम स्तर का भक्त होता है। यदि ऐसे भौतिकतावादी भक्त अर्चापूजा के विधि-विधानों का पालन करते हैं, तो वे क्रमश: उच्च स्तर को प्राप्त करते हुए भगवान् के शुद्ध भक्त बन जाते हैं, बशर्ते कि वे अन्य भक्तों के प्रति अपराध न करें। ऐसी दशा में उनकी उन्नति रुक जाएगी।

श्रील मध्वाचार्य कहते हैं *तद्भक्तानाम् उपेक्षका:कुर्युर्विष्णावपि द्वेषम्।* जो लोग भगवद्भक्तों की उपेक्षा करते हैं या उनके प्रति उदासी बरतते हैं उन्हें भगवान् विष्णु के चरणकमलों का अपराधी मानना चाहिए। इसी तरह जो देवताओं का अनादर करते हैं, वे भक्ति से वंचित हो जाएँगे और जन्म-मृत्यु के चक्र रूपी *संसार* में पुन: पुन: चक्कर लगाते रहने पर विवश हो जाएँगे। *पूज्या देवस्तत: सदा*—देवताओं का सदैव आदर करना चाहिए, क्योंकि वे भगवान् के भक्त होते हैं। यदि कोई व्यक्ति देवताओं से ईर्ष्या करता है, तो समझिये कि वह भगवान् से भी ईर्ष्या करता है। इसी तरह जो व्यक्ति देवताओं का सच्चा आदर करता है, उसे भगवान् की इच्छा का आदर करने वाला मानना चाहिए। वैष्णव मूर्खतावश यह नहीं सोचता कि देवता अनेक हैं। वह जानता है कि भगवान् तो एक है। किन्तु जैसाकि *श्रीमद्भागवत* में अनेक बार कहा गया है, इस जगत में ईश्वर का एक उद्देश्य बद्धजीवों को प्रकृति के क्रूर नियमों से उबारने का है। इस जगत में भगवान् के उद्देश्य के अन्तर्गत देवताओं को भगवान् के शरीर के अंग मानना चाहिए। *भगवद्गीता* (७.२०) में कहा गया है—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना: प्रपद्यन्तेऽन्यदेवता:।

तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियता: स्वया॥

''जिनके मन भौतिक इच्छाओं द्वारा बिगड़ चुके हैं, वे देवताओं की शरण में जाते हैं और अपने स्वभावों के अनुसार पूजा के विधि-विधानों का अनुसरण करते हैं।'' किन्तु ऐसे भक्तों के भी कई उदाहरण मिलते हैं जिन्होंने भगवान् कृष्ण की सेवा के लिए देवताओं से वर पाने के लिए उनकी पूजा की। गोपियों ने कृष्ण को पाने के लिए देवताओं की पूजा की। इसी तरह रुक्मिणी देवी ने अपने विवाह के दिन ऐसी ही देव-पूजा की, जबकि उनका एकमात्र लक्ष्य कृष्ण था। आज भी कृष्णभावनामृत आन्दोलन के प्रचारक महत्त्वपूर्ण पुरुषों में दया तथा पटुता का भाव उत्पन्न करते हैं, जिससे ऐसे धनी या प्रभावशाली लोग अपने साधनों का उपयोग, विश्व-भर में कृष्ण की महिमा बताने के लिए, कृष्ण-भक्ति में करें। इसी प्रकार देवताओं का आदर करना, जिससे वे कृष्ण-भक्ति की सारी सुविधाएँ प्रदान कर सकें, *भक्ति-मार्ग* के विरुद्ध नहीं है, यद्यपि आजकल ऐसी देव-पूजा का भी ह्रास हो चुका है। इसीलिए, चैतन्य महाप्रभु ने इस युग के लिए हरिनाम संकीर्तन को एकमात्र यथार्थ विधि के रूप में संस्तुत किया है। तो भी भगवद्भक्त को देवपूजा के विरुद्ध *भगवद्गीता* के आदेशों को देवताओं का अपमान करने की छूट नहीं मान लेनी चाहिए, क्योंकि वे प्रामाणिक वैष्णव होते हैं।

श्रील मध्वाचार्य की टिप्पणी है—

विष्णोरुपेक्षकं सर्वे विद्विषन्त्यधिकं सुराः।

पतत्यवश्यं तमसि हरिणा तैश्च पातितः॥

''जो व्यक्ति भगवान् विष्णु का आदर नहीं करता, उसके प्रति सारे देवता शत्रुभाव रखते हैं। ऐसा व्यक्ति भगवान् तथा देवताओं द्वारा घोरतम नरक में गिरा दिया जाता है।'' श्रील मध्वाचार्य के इस कथन से देवताओं के भक्तिभाव को समझा जा सकता है। यह कहा गया है कि उत्तम अधिकारी द्वारा प्राप्त की गई परम मुक्ति में भक्त भगवान् तथा देवताओं के प्रत्यक्ष सान्निध्य का दिव्य आनन्द लेता है।

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार ऐसा कनिष्ठ अधिकारी, जो अन्य भक्तों का उचित आदर नहीं कर सकता, उन सामान्य जीवों का भी, जो भक्त नहीं है, निश्चय ही आदर नहीं कर पायेगा। इसलिए वह प्रचार या उपदेश-कार्य के लिए तब तक व्यर्थ होता है, जब तक कि वह ज्ञान की उच्च अवस्था को प्राप्त नहीं हो लेता। वे कहते हैं—*इयं च श्रद्धा न शास्त्रार्थावधारणजाता।* चूँकि कनिष्ठ अधिकारी की श्रद्धा वैदिक वाङ्मय पर आधारित नहीं होती, अतएव वह भगवान् के उच्च पद को हर एक के हृदय में

नहीं समझ पाता। इसलिए वह न तो भगवत्प्रेम प्रकट कर पाता है, न ही भगवद्भक्तों के उच्च पद को समझ पाता है। कृष्ण इतने यशस्वी हैं कि उनके अन्तरंग संगी भी यशस्वी होने चाहिए। किन्तु कनिष्ठ अधिकारी इससे अवगत नहीं रहता। इसी तरह वैष्णव का यह अनिवार्य गुण है कि वह अन्यों को आदर प्रदान करे (*अमानिना मानदेनकीर्तनीय: सदा हरि:*), किन्तु कनिष्ठ अधिकारी में इसका भी अभाव रहता है। किन्तु यदि ऐसा व्यक्ति वैदिक वाङ्मय में श्रद्धा रखे और *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* के कथनों को समझने का प्रयास करे तो वह धीरे धीरे मध्यम तथा उत्तम भक्ति-अवस्था तक उठ सकता है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार कनिष्ठ अधिकारी को गम्भीरतापूर्वक अर्चाविग्रह की नियमित पूजा में लगे रहना चाहिए। अर्चाविग्रह भगवान् का विशिष्ट अवतार होता है। भगवान् कृष्ण अपने पूजक के समक्ष पाँच विभिन्न रूपों में अपने को प्रस्तुत कर सकते हैं। ये हैं—अपने आदि कृष्ण-रूप में (*पर*), अपने चतुर्व्यूह-अंश में (*व्यूह*), अपने लीला-अवतारों के रूप में (*वैभव*), परमात्मा-रूप में (*अन्तर्यामी*) तथा अर्चाविग्रह-रूप में (*अर्चा*)। इस अर्चा-रूप में परमात्मा होता है, जो भगवान् के वैभव-रूप में समाहित रहता है। भगवान् का यह *वैभव-प्रकाश* चतुर्व्यूह से निकलता है और यह चतुर्व्यूह परम सत्य वासुदेव में स्थित होता है, जो कि *स्वयंप्रकाश-तत्त्व* के भीतर स्थित होता है। इस *स्वयंप्रकाश* में वैकुण्ठ स्थित गोलोक वृन्दावनवासी कृष्ण के आदि रूप *स्वयंरूप-तत्त्व* के अंश निहित होते हैं। वैकुण्ठ-लोक में भगवान् के अंशों का यह अनुक्रम भौतिक जगत में भी अनुभव किया जाता है, जो कि भगवान् की सेवा करने की उत्सुकता के अनुसार है। भक्ति की निम्नतम अवस्था में एक नौसिखिये को चाहिए कि भगवान् की तुष्टि के लिए अपने सारे कर्म उन्हें समर्पित करे और मन्दिर में कृष्ण-पूजा का अनुशीलन करे।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार ऊपर वर्णित भगवान् के सारे स्वांश इस जगत में उतर कर अर्चाविग्रह में प्रवेश करते हैं, जो वैष्णव का दैनिक-जीवन संगी बनकर परमात्मा के कार्य को प्रकट करता है। यद्यपि भगवान् का लीला-अंश, *वैभव* विशिष्ट अवसरों पर अवतरित होता है (*रामादिमूर्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्*) किन्तु परमात्मा-रूप तथा अर्चा-रूप तो भक्तों के आध्यात्मिक उन्नयन के लिए इस जगत में सदा ही उपलब्ध रहते हैं। जब कोई व्यक्ति *मध्यम अधिकारी* पद को प्राप्त

होता है, तो वह भगवान् के अंशों को समझ पाता है, जबकि कनिष्ठ अधिकारी का सारा ज्ञान अर्चा तक ही सीमित रहता है। तो भी कृष्ण इतने दयालु हैं कि निम्नतम श्रेणी के वैष्णवों को भी प्रोत्साहित करने के लिए वे अपने सारे विभिन्न रूपों को अर्चा में ही संघनित कर देते हैं, जिससे अर्चा की पूजा करते हुए कनिष्ठ अधिकारी सारे रूपों की पूजा कर लेता है। भक्त ज्यों ज्यों प्रगति करता जाता है, वह इन रूपों को, जैसे जैसे वे अपने ढंग से व्यक्त होते हैं, समझ सकता है, चाहे वे इस लोक में हों या वैकुण्ठ में।

तृतीय श्रेणी के स्तर पर रहते हुए, भक्त को भगवान् के साज-सज्जा तथा परिचर की आनंदमयी वास्तविकता का आध्यात्मिक अनुमान नहीं हो पाता। श्री चैतन्य महाप्रभु राजा प्रतापरुद्र से तब अत्यधिक प्रसन्न हुए थे, जब राजा महाप्रभु का बहिर्वसन प्राप्त करके, उसे तुरन्त अर्चा के रूप में स्थापित करके, उसकी साक्षात् भगवान् जैसी पूजा करने लगे। शिवजी ने स्वयं कहा है— *तस्माद् परतरं देवि तदीयानां समर्चनम्।* भगवान् के साज-सज्जा, परिचर या उनके भक्तों की पूजा भगवान् की पूजा की अपेक्षा से भी श्रेष्ठ है, क्योंकि भगवान् अपनी पूजा की अपेक्षा अपने भक्तों तथा परिचर की पूजा से अधिक प्रसन्न होते हैं।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार *कनिष्ठ अधिकारी* द्वारा भगवान् के भक्तों, परिचर तथा साज-सज्जा को न समझ पाना, इसका सूचक है कि वह अब भी उन कर्मवादियों तथा मायावादियों के अनुमान-जनित ज्ञान से प्रभावित है, जो इन्द्रियतृप्ति तथा परम के बारे में निर्विशेषवादी चिंतन में तल्लीन हैं। श्रील प्रभुपाद प्राय: कहा करते थे कि निर्विशेषवादी ही कृष्ण का एकान्त दर्शन चाहता है, हम तो कृष्ण को उनकी गौवों, उनके मित्रों, उनके माता-पिता, उनकी गोपियों, उनकी वंशी, उनके आभूषण, वनश्री इत्यादि के साथ साथ देखना चाहते हैं। वृन्दावन की पृष्ठभूमि में कृष्ण भव्य लगते हैं। वृन्दावन की भूमि में ही अनेकानेक सुन्दर संगियों से घिरे हुए अपना अकथनीय सौन्दर्य प्रकट करते हैं। इसी तरह भगवान् की अद्वितीय कृपा उन शुद्ध भक्तों के कार्यों में प्रकट होती है, जो सारे विश्व में निस्वार्थ-भाव से यात्रा करते हुए बद्धजीवों के सिरों पर कृष्ण के चरणकमलों की धूल का वितरण करते हैं। जो व्यक्ति भगवान् के साज-सज्जा, परिचर तथा भक्तों में अरुचि रखता हो, उसे

भगवान् का अवरुद्ध ज्ञान होता है। यह सब जीवन के निर्विशेष तथा विषय-वासनामय ज्ञान के दूषण से होता है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर कहते हैं कि भगवान् वासुदेव के अर्चा की सैकड़ों जीवनों तक बाहरी साज-सामान से पूजा करने से ही, उसे भगवान् के दिव्य नाम तथा मंत्रों की सही प्रकृति की अनुभूति हो पाती है और इस तरह उसकी भौतिकतावादी मनोवृत्ति का बन्धन ढीला पड़ता है। इस तरह से जब कनिष्ठ अधिकारी धीरे धीरे भक्तों के मानसिक कार्यकलापों का अनुभव कर पाता है और उच्च अवस्था की ओर बढ़ने के लिए गम्भीरतापूर्वक प्रयास करता है, तो उसकी भौतिकतावादी धारणाएँ स्वयमेव दूर हो जाती हैं। तब वह भगवान् के प्रति प्रेमाभक्ति प्रकट करता है और उन भक्तों के साथ मैत्री करता है, जो भगवान् के परमप्रिय पुत्र हैं। वह कृष्ण-भक्ति के सार्वभौम गुण को पहचान कर अन्य भोले-भाले लोगों को भी भगवान् की सेवा में लगाने के लिए अत्यन्त उत्सुक होता है। इस तरह महत्त्वपूर्ण प्रगति करते हुए वह, जो भी वस्तु या मनुष्य, उसके आध्यात्मिक जीवन में बाधक बनता है, उसका शत्रु बनता जाता है और इस तरह वह उन नास्तिक लोगों से अपने को बचाता है, जो सदुपदेश से लाभ नहीं उठा सकते।

ॐ विष्णुपाद परमहंस परिव्राजकाचार्य १०८ श्री श्रीमद् भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद द्वारा संस्थापित अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ इतना उत्तम है कि जो भी इसकी सहायता करता है, वह भगवान् के प्रचार-कार्य में तुरन्त लग जाता है। इस तरह इस संघ के सदस्यों को तुरन्त ही मध्यम कोटि की भक्ति करने की सुविधा मिल जाती है। यदि कोई व्यक्ति कृष्णभावनामृत के नाम पर प्रचार-कार्य छोड़कर अपने निर्वाह हेतु धन एकत्र करने मात्र में रुचि लेने लगता है, तो वह अन्य जीवों के प्रति ईर्ष्या प्रदर्शित करता है। यह तो तृतीय कोटि के स्तर का लक्षण है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार ४५वें श्लोक से लेकर ४७वें श्लोक तक राजा निमि के इन दो प्रश्नों—"भगवद्भक्ति का स्वभाव क्या है ?" और "वैष्णव के विशिष्ट कर्तव्य क्या हैं ?"—के उत्तर दिये हुए हैं।

गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान्यो न द्वेष्टि न हृष्यति ।
विष्णोर्मायामिदं पश्यन्स वै भागवतोत्तमः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

गृहीत्वा—स्वीकार करके; अपि—यद्यपि; इन्द्रियैः—इन्द्रियों के द्वारा; अर्थान्—इन्द्रिय-विषयों को; यः—जो; न द्वेष्टि—ईर्ष्या नहीं करता; न हृष्यति—हर्षित नहीं होता; विष्णोः—भगवान् विष्णु की; मायाम्—माया को; इदम्—इस भौतिक ब्रह्माण्ड को; पश्यन्—देखते हुए; सः—वह; वै—निस्सन्देह; भागवत-उत्तमः—प्रथम कोटि का भक्त।

इन्द्रिय-विषयों में लगे रहकर भी, जो इस सम्पूर्ण जगत को भगवान् विष्णु की शक्ति के रूप में देखता है, वह न तो विकर्षित होता है, न हर्षित। वह निस्सन्देह, भक्तों में सबसे महान् होता है।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार उत्तम अधिकारी का पद इतना पूज्य है कि आठ श्लोकों में अब अतिरिक्त लक्षण दिये जा रहे हैं। यह समझ लेना होगा कि जब तक कोई भगवद्भक्त के चरणकमलों के सम्पर्क में नहीं आता, तब तक भौतिक मोह से छूटने का मार्ग समझ पाना कठिन है। *श्री उपदेशामृत* के पाँचवें श्लोक में श्रील रूप गोस्वामी ने कहा है—*शुश्रूषया भजनविज्ञमनन्यमन्यनिन्दादिशून्यहृदम् ईप्सितसङ्गलब्ध्या*—मनुष्य को चाहिए कि उस शुद्ध भक्त की संगति करे और श्रद्धापूर्वक सेवा करे, जो अविचल भक्ति में आगे बढ़ा हुआ हो और जिसका हृदय अन्यों की आलोचना करने की लालसा से नितान्त रहित हो। श्रील प्रभुपाद ने इस पर टीका की है—"इस श्लोक में श्रील रूप गोस्वामी भक्त को सलाह देते हैं कि वह इतना बुद्धिमान हो कि कनिष्ठ अधिकारी, मध्यम अधिकारी तथा उत्तम अधिकारी के बीच अन्तर जान सके—नवदीक्षित वैष्णव तथा मध्यम पद पर स्थित वैष्णव भी शिष्य बना सकता है, किन्तु ऐसे शिष्यों को उसी पद पर होना चाहिए और यह समझ लेना चाहिए कि वे उसके अपर्याप्त मार्गदर्शन में जीवन के चरम उद्देश्य की ओर ठीक से प्रगति नहीं कर सकेंगे। इसलिए शिष्य को चाहिए कि सावधान रहते हुए उत्तम अधिकारी को ही अपना गुरु चुने। अतः अब अतिरिक्त लक्षण दिए जाएँगे, ताकि बद्धजीव जो भगवद्धाम लौटना चाहता है, प्रामाणिक गुरु को अच्छी प्रकार पहचान सके।"

श्रील श्रीधर स्वामी तथा श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार भगवान् के शुद्ध भक्त के साथ संगति करना इतना महत्त्वपूर्ण है कि भक्ति की विभिन्न श्रेणियों की व्याख्या के पश्चात् शुद्ध भक्त की योग्यताओं के विषय में आठ अतिरिक्त श्लोक दिये जा रहे हैं, ताकि श्रीमद्भागवतम् के विद्यार्थी इस दिशा में कोई त्रुटि न कर सकें। इसी प्रकार *भगवद्गीता* के द्वितीय अध्याय में अर्जुन ने कृष्ण से पूर्णतया कृष्णभावनाभावित व्यक्ति के लक्षण पूछे हैं और कृष्ण ने *प्रज्ञा प्रतिष्ठिता*—अर्थात् कृष्णभावनामृत में प्रतिष्ठित व्यक्ति के लक्षणों की विस्तार से व्याख्या की है।

इस श्लोक में जिस विशिष्ट योग्यता का वर्णन हुआ है, वह है—*विष्णोर्मायामिदं पश्यन्*—मनुष्य को चाहिए कि सम्पूर्ण भौतिक जगत को भगवान् की माया की उपज माने। जो भगवान् की सम्पत्ति है उसके लिए शोक करने या प्रफुल्लित होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस जगत में कोई व्यक्ति सामान्यतया वांछित वस्तु को खो देने पर शोक करता है और इच्छित वस्तु को पाने पर प्रफुल्लित होता है। किन्तु शुद्ध भक्त में कोई निजी इच्छा न होने से (*कृष्ण-भक्त निष्काम—अतएव 'शान्त'*) हानि या लाभ का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। जैसाकि *भगवद्गीता* (१८.५४) में भगवान् कहते हैं—

ब्रह्मभूता: प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।

सम: सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

''जो दिव्य पद पर स्थित है, वह तुरन्त ही परब्रह्म का साक्षात्कार करके पूर्णतया आनंदित हो जाता है। वह न तो शोक करता है, न ही किसी वस्तु को पाने की इच्छा करता है। वह हर जीव के प्रति समभाव रखता है। ऐसी दशा में वह मेरी शुद्ध भक्ति प्राप्त करता है।'' इसी प्रकार शिवजी राजा चित्रकेतु के चरित्र की प्रशंसा करते हुए अपनी पत्नी पार्वती से कहते हैं—

नारायणपरा: सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति।

स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिन:॥

''एकमात्र भगवान् नारायण की सेवा में लगे भक्तगण कभी भी जीवन की किसी दशा से डरते नहीं। उनके लिए स्वर्गलोक, मोक्ष तथा नरकलोक सभी एकसमान हैं, क्योंकि ऐसे भक्त एकमात्र भगवान् की सेवा में रुचि रखते हैं।'' (भागवत ६.१७.२८)

कृष्ण-भक्ति में पूर्ण संतोष की यह अवस्था कृत्रिम ध्यान द्वारा प्राप्त होने वाला मानसिक चिन्तन नहीं है, अपितु आनन्दकन्द भगवान् की श्रेष्ठ प्रकृति का अनुभव करने का फल है। जैसाकि *भगवद्गीता* (२.५९) में कहा गया है—*रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।* जब निर्विशेषवादी तथा शून्यवादी कृत्रिम रूप में भौतिक वस्तुओं को अपने मन से निकाल फेंकने का प्रयत्न करते हैं, तो उन्हें अपने कृत्रिम ध्यान में काफी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ती हैं—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषां अव्यक्तासक्तचेतसाम्।

अव्यक्ता हि गतिर्दु:खं देहवद्भिरवाप्यते॥

(*भगवद्गीता* १२.५)

भगवान् कृष्ण के अनुसार निर्विशेष मोक्ष अनेक कष्टों तथा असुविधाओं के बाद मिलता है, क्योंकि हर जीव परम पुरुष कृष्ण का भिन्नांश होने से नित्य पुरुष है। आत्मस्वरूप को त्यागने की धारणा भौतिक अहंकार से उत्पन्न घोर हताशा का प्रतिफल होती है। यह कोई सकारात्मक कार्यक्रम नहीं है। यदि किसी के हाथ में असह्य पीड़ा हो तो वह अपना हाथ कटाने के लिए राजी हो सकता है, किन्तु असली हल तो यह होगा कि संदूषण को हटा दिया जाये, जिससे स्वस्थ हाथ आनन्द का स्रोत बन सके। इसी प्रकार अहंकार या ''मैं'' का भाव तभी असीम सुख का स्रोत हो सकता है, जब हम यह समझ सकें कि हम क्या हैं अर्थात् कृष्ण के दास हैं। निर्विशेष ध्यान नीरस तथा कष्टप्रद है। शुद्ध भक्त यह अनुभव करता है कि वह नित्य पुरुष है, परम पुरुष कृष्ण का भिन्नांश है और ईश्वर के पुत्र-रूप में उसे भगवान् की भावपूर्ण नित्य लीलाओं में भाग लेने, कृष्ण से प्रेम करने और सदैव उनके साथ खेलने का अधिकार प्राप्त है। ऐसे भक्त के लिए पीत भौतिक प्रकृति, जो आध्यात्मिक जगत का विकृत प्रतिबिम्ब मात्र है, पूर्णतया अनाकर्षक बन जाती है। अतएव जो व्यक्ति कृष्ण में पूर्णरूपेण अनुरक्त होता है और माया के विकारों में अरुचि दिखाता है, उसे *भागवतोत्तम* कहा जा सकता है, जैसाकि किसी पिछले श्लोक में वर्णन हुआ है (*भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र च*)।

श्रील मध्वाचार्य ने कहा है—*विष्णोर्मायां विष्णिवच्छाधीनाम्*—इस श्लोक के *विष्णोर्मायाम्* शब्द यह सूचित करते हैं कि माया सदैव विष्णु की इच्छा पर आश्रित रहती है। इसी प्रकार *ब्रह्म-संहिता* (५.४४) में कहा गया है—*सृष्टिस्थितिप्रलयसाधनशक्तिरेका छायेव यास्य भुवनानि बिभर्ति दुर्गा।* माया भगवान् की परछाईं के समान है, जो इस जगत के सृजन, पालन और प्रलय में उनकी सहायता करती है। जिस प्रकार परछाईं में स्वतंत्र गतिशक्ति नहीं होती, अपितु उस वस्तु का पीछा करती है, जिसकी वह छाया होती है, उसी तरह भगवान् की माया में कोई स्वतंत्र शक्ति नहीं होती, अपितु भगवान् की इच्छानुसार ही वह जीवों को मोहित करती है। कृष्ण के ऐश्वर्यों में से एक ऐश्वर्य यह है कि वे परम विरक्त हैं। जब कोई जीव उन्हें भुलाना चाहता है, तो वे अपनी माया को लगाकर उस बद्धजीव की ऐसी मूर्खता को जल्दी ही सरल बनाने में सहायता देते हैं।

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार *गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान्* शब्द सूचित करते हैं कि भगवान् का शुद्ध भक्त इस जगत में कर्म करना बन्द नहीं करता, प्रत्युत वह अपनी इन्द्रियों को इन्द्रियों के स्वामी हृषीकेश की सेवा में लगा देता है। *हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते।* श्रील रूप गोस्वामी ने बतलाया है कि यदि कोई उन भौतिक वस्तुओं का, जो कृष्ण की सेवा के लिए उपयुक्त हैं, भौतिक अतः आध्यात्मिक उन्नयन में अवरोधक मान कर परित्याग कर देता है, तो उसका त्याग केवल *फल्गु-वैराग्य* अर्थात् कच्चा तथा अधूरा वैराग्य होता है। दूसरी ओर, जो व्यक्ति इन्द्रियतृप्ति की किसी निजी इच्छा के बिना कृष्ण-सेवा के लिए सारी भौतिक वस्तुओं को स्वीकार कर लेता है, वह वास्तव में विरक्त है (*युक्तं वैराग्यमुच्यते*)।

इस श्लोक की अपनी टीका में श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने सावधान किया है कि भक्तों की तीन श्रेणियों—उत्तम अधिकारी, मध्यम अधिकारी तथा कनिष्ठ अधिकारी—में से किसी से भी ईर्ष्या करने पर मनुष्य निर्विशेष पद पर जा गिरता है और अपने को अथवा अन्यों को लाभ दिलाने की सारी शक्ति खो देता है। अतएव जो लोग कृष्णभावनामृत में आगे बढ़ना चाहते हैं, उन्हें अन्य वैष्णवों की व्यर्थ आलोचना करके अपने दिव्य अनुभव को खतरे में नहीं डालना चाहिए। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार, यदि कोई *फल्गु-वैराग्य* में रत होता है अर्थात् जो भगवान् की सेवा के लिए उपयुक्त वस्तुओं का परित्याग करता है, उसे निर्विशेष दर्शन से दूषित होने की सम्भावना रहती है। दूसरी ओर *युक्त-वैराग्य* के सिद्धान्त पर लगे रहकर, निजी इच्छा के बिना हर वस्तु को कृष्ण की सेवा में लगाते हुए मनुष्य भौतिक इन्द्रियतृप्ति के खतरे से अलग रह सकता है और धीरे-धीरे *महाभागवत* पद पर पहुँच सकता है, जैसाकि इस श्लोक में बतलाया गया है।

देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो
जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः ।
संसारधर्मैरविमुह्यमानः
स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

देह—शरीर की; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; प्राण—प्राण-वायु; मनः—मन; धियाम्—तथा बुद्धि; यः—जो; जन्म—जन्म; अप्यय—क्षय; क्षुत्—भूख; भय—डर; तर्ष—प्यास; कृच्छ्रैः—तथा थकान से; संसार—भौतिक जीवन के; धर्मैः—अभिन्न गुणों से; अविमुह्यमानः—मोहित नहीं; स्मृत्या—स्मृति के कारण; हरेः—भगवान् हरि के; भागवत-प्रधानः—भक्तों में सर्वप्रमुख।

इस भौतिक जगत में मनुष्य का भौतिक शरीर सदैव जन्म तथा मृत्यु के अधीन रहता है। इसी तरह प्राण को भूख तथा प्यास सताते हैं, मन सदैव चिन्तित रहता है, बुद्धि उसके लिए लालायित रहती है, जिसे प्राप्त नहीं किया जा सकता और ये सारी इन्द्रियाँ भौतिक प्रकृति से निरन्तर संघर्ष करते रहने से अन्ततः थक जाती हैं। जो व्यक्ति भौतिक जगत के अपरिहार्य दुखों से मोहग्रस्त नहीं होता और भगवान् के चरणकमलों के स्मरण मात्र से उन सबसे अलग रहता है, उसे ही भागवत-प्रधान अर्थात् भगवान् का अग्रणी भक्त कहा जाता है।

तात्पर्य : श्रील मध्वाचार्य के अनुसार इस जगत में बुद्धिमान जीवों की तीन श्रेणियाँ हैं—देवता, सामान्य मनुष्य तथा असुर। समस्त शुभ गुणों से युक्त जीव अर्थात् भगवान् का अत्युन्नत भक्त चाहे वह इस पृथ्वी पर हो या अन्य लोकों में हो, *देव* कहलाता है। सामान्य मनुष्यों में प्राय: अच्छे तथा बुरे गुण होते हैं और इस मिश्रण के अनुसार वे इस संसार में सुख तथा दुख भोगते हैं। किन्तु जिनमें अच्छे गुणों का अभाव होता है तथा जो पवित्र जीवन एवं भगवद्भक्ति के शत्रु बने रहते हैं, वे *असुर* कहलाते हैं।

इन तीनों श्रणियों में से सामान्य मनुष्यों तथा असुरों को जन्म, मृत्यु तथा भूख बुरी तरह सताते हैं, जबकि *देव* या देवतागण ऐसे शारीरिक कष्टों से दूर रहते हैं। वे इसलिए दूर रहते हैं क्योंकि वे अपने पुण्यकर्मों का फल भोगते हैं। *कर्म* के नियमों के अनुसार वे भौतिक जगत की स्थूल यातना से अपरिचित होते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* (९.२०) में भगवान् ने कहा है—

त्रैविद्या मां सोमपा: पूतपापा

यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।

ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकम्

अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्॥

"जो वेदों का अध्ययन करते हैं तथा सोमरस का पान करते हैं, वे स्वर्ग-प्राप्ति की गवेषणा करते हुए अप्रत्यक्ष रूप से मेरी पूजा करते हैं। वे इन्द्र के स्वर्गिक धाम में जन्म लेते हैं, जहाँ वे देवताओं का-सा आनन्द भोगते हैं।" किन्तु *भगवद्गीता* के अगले श्लोक में यह कहा गया है कि जब इन पुण्यकर्मों का फल चुक जाता है, तो उसे देवता-पद तथा उसी के साथ स्वर्ग का आनन्द छोड़ना पड़ता है और पृथ्वी पर *नर* अर्थात् सामान्य मनुष्य के रूप में लौटना होता है (*क्षीणे पुण्ये*

मर्त्यलोकंविशन्ति)। वस्तुत: प्रकृति के नियम इतने सूक्ष्म हैं कि हो सकता है कि कोई प्राणी पृथ्वी पर मनुष्य रूप में भी न लौट पाये बल्कि उसे अपने कर्म के अनुसार किसी कीट या वृक्ष का जन्म लेना पड़े।

किन्तु भगवान् के शुद्ध भक्त को भौतिक कष्ट नहीं होता, क्योंकि वह देहात्म-बुद्धि को छोड़ चुका होता है और अपने को भगवान् कृष्ण के नित्य दास के रूप में पहचानता है। जैसाकि स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (९.२) में कहा है—*सुसुखं कर्तुमव्ययम्।* साधन-भक्ति की अवस्था में भी भक्तियोग अत्यन्त आनन्दप्रद है। इसी प्रकार श्री चैतन्य महाप्रभु के निकट समकालीन लोचन दास ठाकुर ने कहा है—*सब अवतार सार शिरोमणि केवल आनन्दकाण्ड।* यद्यपि वैदिक शास्त्रों में कई *काण्ड* अर्थात् विभाग हैं जैसे कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड इत्यादि, किन्तु चैतन्य महाप्रभु का केवल हरिनाम संकीर्तन आन्दोलन अर्थात् *आनन्दकाण्ड*—शुद्ध आनन्द का मार्ग है। केवल कृष्ण-नाम का कीर्तन करने, भगवान् को अर्पित भव्य भोजन का उच्छिष्ट खाने और भगवान् की मोहक लीलाओं के कीर्तन के श्रवण से मनुष्य आनन्द के सागर में, जिसे कृष्णभावनामृत कहते हैं, मग्न हो जाता है।

सौभाग्यवश यह आनन्दमय सागर हर जीव की नित्य स्थिति है बशर्ते कि वह अपने जीवन के सारे निरर्थक के विचार त्याग दे। मनुष्य को स्वयं को न तो स्थूल भौतिक देह मानना चाहिए, न चंचल मन, न कल्पना-प्रेरक बुद्धि, न ही मनुष्य को अपने को मूर्खतापूर्वक तथाकथित बौद्ध शून्यवाद से जोड़ना चाहिए। न ही उसे अपनी पहचान निर्विशेष आध्यात्मिक जीवन के सागर के रूप में करनी चाहिए, जिसे *ब्रह्मज्योति* कहते हैं और जो आच्छादित ब्रह्माण्ड से परे दिव्य आकाश के बाहरी भाग को प्रकाशित करती है। उसे तो अपने आपको परम पुरुष भगवान् का निजी नित्य दास समझना चाहिए। केवल अपनी इस स्वाभाविक स्थिति को मानने से तथा भगवान् के चरणकमलों की सेवा में रत रहने से ही मनुष्य को कृष्ण की नित्य लीलाओं में प्रत्यक्ष भाग लेने का अवसर मिल जाता है, जिस तरह अर्जुन को कृष्ण के साथ कुरुक्षेत्र युद्ध में योद्धा के रूप में कर्म करने का अवसर मिल गया था।

श्रील मध्वाचार्य ने उस विधि का विस्तृत वर्णन किया है, जिससे भौतिक कष्ट उत्पन्न होते हैं। जब आसुरी प्रवृत्ति वाला बद्धजीव अपनी पहचान स्थूल भौतिक शरीर के रूप में करता है, तो उसे अनवरत आलस तथा अतृप्त कामेच्छा सताते रहते हैं, जो उसकी मानसिक शान्ति तथा गम्भीरता को भस्म कर

देते हैं। जब कोई आसुरी व्यक्ति अपने को *प्राण* मानता है, तो उसे भूख सताती है और जब वह अपनी पहचान मन के रूप में करता है, तो उसे शंका, भय तथा लालसा सताती है, जिसका अन्त निराशा में होता है। जब वह अपनी पहचान बुद्धि के साथ करता है, तो उसे अपने अन्त:करण में कटुता तथा अशान्ति प्रतीत होती है। जब वह मिथ्या अहंकार के रूप में अपनी पहचान करता है, तो उसे यह सोच कर कि "मैं कितना नीच हूँ" निम्नता का अनुभव होता है। जब वह चेतना से अपनी पहचान करता है, तो उसे भूतकाल की स्मृतियाँ सताती हैं। जब वह असुर अपने को सारे जीवों का शासक बताना चाहता है, तो ये सारे कष्ट एक साथ बढ़ जाते हैं।

श्रीपाद मध्वाचार्य के अनुसार पापी जीवन सुख का आसुरी मानदण्ड है। हम देख सकते हैं कि आसुरी समाज में मनोरंजन कार्यों के लिए देर रात के अंधेरे पहर सर्वोपयुक्त माने जाते हैं। जब कोई असुर यह सुनता है कि कोई व्यक्ति ४ बजे प्रात:काल उठकर देवकालीन भोर का लाभ उठा रहा है, तो वह चकित तथा मोहित हो जाता है। इसलिए *भगवद्गीता* (२.६९) में कहा गया है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने:॥

"जो सभी प्राणियों के लिए रात होती है, वही आत्मसंयमी व्यक्तियों के लिए जगने का समय होता है और सारे जीवों के जागने का समय आत्मनिरीक्षक मुनि के निमित्त रात होती है।" श्रील प्रभुपाद ने टीका की है, "बुद्धिमान व्यक्तियों की दो श्रेणियाँ हैं। इनमें से एक इन्द्रियतृप्ति के भौतिक कार्यकलापों के लिए बुद्धिमान होता है और दूसरा आत्मनिरीक्षक है, जो आत्म-साक्षात्कार के अनुशीलन के लिए सचेत रहता है।" इस तरह, जो जितना ही अवैध यौन, नशा, मांसाहार तथा द्यूत-क्रीड़ा करता है, वह आसुरी समाज में उतना ही अधिक प्रतिष्ठित होता है, जबकि कृणभावनामृत पर आधारित पवित्र समाज में इन वस्तुओं का सर्वथा उन्मूलन हो जाता है। इसी प्रकार कोई व्यक्ति ज्यों ज्यों कृष्ण के नाम तथा लीलाओं में आनन्दपूर्वक अनुरक्त होता है, त्यों त्यों वह उतना ही आसुरी समाज से कटता चला जाता है।

असुरगण परमेश्वर के आत्मघोषित शत्रु होते हैं और वे उनके साम्राज्य (धाम) का मजाक उड़ाते हैं। इसीलिए श्रील मध्वाचार्य उन्हें *अधोगते:* कहते हैं अर्थात् वे जिन्होंने नर्क के गहनतम भागों में जाने

का टिकट खरीद रखा है। दूसरी ओर, यदि कोई व्यक्ति भौतिक जीवन के कष्टों से अविचलित रहता है, तो वह भगवान् जैसे आध्यात्मिक पद को प्राप्त होता है। *भगवद्गीता* (२.१५) में कहा गया है—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।

समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

"हे पुरुष-श्रेष्ठ (अर्जुन)! जो व्यक्ति सुख तथा दुख से विचलित नहीं होता और दोनों में स्थिर रहता है, वह निश्चित रूप से मोक्ष का पात्र है।" कोई व्यक्ति इस दिव्य अवस्था को भगवत्कृपा से ही प्राप्त कर सकता है। श्रील मध्वाचार्य के शब्दों में *सम्पूर्णानुग्रहाद् विष्णोः।*

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने उस विधि का वर्णन किया है, जिससे मनुष्य *उत्तम अधिकारी* बन सकता है। यदि कोई व्यक्ति भाग्यशाली होता है, तो वह क्रमशः कनिष्ठ अधिकारी की संकुचित दृष्टि तथा क्रियाओं से ऊब कर मध्यम अधिकारी की विस्तारित दृष्टि का आदर करने लगता है, जो यह पहचान सकता है कि हर जीव को कृष्ण-भक्त बनना चाहिए और कोई भी व्यक्ति उत्तम अधिकारी भक्त के चरण-चिह्नों का अनुसरण करके जीवन-सिद्धि प्राप्त कर सकता है। ज्यों ज्यों उसकी भक्ति गहन होती जाती है और वह शुद्ध भक्त की चरणधूलि में बार बार लोटता है, उसके मन को जन्म, मृत्यु, भूख, प्यास, भय इत्यादि की यातनाएँ विचलित करना बंद कर देती हैं। जैसाकि *भक्तिरसामृतसिन्धु* (१.२.११४) में कहा गया है—

अलब्धे वा विनष्टे वा भक्ष्याच्छादनसाधने।

अविक्लवमतिर्भूत्वा हरिमेव धिया स्मरेत्॥

"यदि कोई भक्त ठीक से भोजन करने या ठीक से कपड़े पहनने के प्रयास में अशान्त रहता है, तो उसे इस भौतिक असफलता द्वारा अपने मन को विचलित नहीं होने देना चाहिए। प्रत्युत उसे अपनी बुद्धि अपने स्वामी कृष्ण को स्मरण करने में लगानी चाहिए और इस तरह अविचलित रहना चाहिए।" जब कोई कृष्ण का सदैव स्मरण करने की इस विधि में परिपक्व हो जाता है, तो उसे *महाभागवत* की पदवी दी जाती है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त ने उदाहरण दिया है कि जिस तरह बच्चे की गेंद रस्सी के सिरे से बाँध दी जाती है, जिससे वह दूर न छिटक सके, उसी तरह कृष्ण की शरण में आया भक्त वैदिक आदेशों की

रस्सियों से बँध जाता है और सांसारिक मामलों में कभी मग्न नहीं होता। इस सन्दर्भ में उन्होंने ऋग्वेद का उद्धरण (१.१५६.३) दिया है—*ॐ अस्य जानतो नाम चिद् विवक्तन् महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे ॐ तत् सत्* "हे विष्णु! आपका नाम पूर्णत: दिव्य है। इस तरह यह स्वत: प्रकट है। निस्सन्देह, आपके पवित्र नाम के कीर्तन की महिमा को ठीक से बिना समझे भी, यदि हम नाम का उच्चारण उसकी महिमा को थोड़ा-सा भी समझ कर करते हैं—अर्थात् आपके नाम के शब्दों को केवल दुहराते हैं, तो हम धीरे धीरे उसे समझ जाएँगे।" परम पुरुष, जिन्हें *प्रणव ॐ* द्वारा सूचित किये गये हैं, *सत्* हैं अर्थात् स्वत: प्रकट होने वाले हैं। इसलिए भय या ईर्ष्या से अशान्त होते हुए भी यदि कोई व्यक्ति भगवान् के पवित्र नाम का उच्चारण करता रहता है, तो उसे भगवान् का दिव्य स्वरूप प्रकट हो जायेगा। *श्रीमद्भागवत* (६.२.१४) में और आगे पुष्टि हुई है—

सांकेत्यम् पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनम् एव वा।

वैकुण्ठनामग्रहणम् अशेषाघहरं विदु:॥

"जो व्यक्ति भगवन्नाम का कीर्तन करता है, वह अपार पापों के फलों से तुरन्त छूट जाता है, भले ही वह नाम का उच्चारण अप्रत्यक्षत:, हँसी में, संगीत-विनोद के लिए या उपेक्षा-भाव से क्यों न करता हो।" शास्त्रों के सारे विद्वान इसे स्वीकार करते हैं।"

न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि सम्भव: ।
वासुदेवैकनिलय: स वै भागवतोत्तम: ॥५०॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; काम—काम-वासना; कर्म—सकाम कर्म; बीजानाम्—या भौतिक लालसाओं के, जो सकाम कर्म के बीज रूप हैं; यस्य—जिसका; चेतसि—मन में; सम्भव:—ऊपर उठने का अवसर; वासुदेव-एक-निलय:—जिसकी एकमात्र शरण भगवान् वासुदेव हों उसके लिए; स:—वह; वै—निस्सन्देह; भागवत-उत्तम:—प्रथम श्रेणी का भक्त है।

जिसने एकमात्र भगवान् वासुदेव की शरण ले रखी है, वह उन सकाम कर्मों से मुक्त हो जाता है, जो भौतिक काम-वासना पर आधारित हैं। वस्तुत: जिसने भगवान् के चरणकमलों की शरण ले रखी है, वह भौतिक इन्द्रियतृप्ति को भोगने की इच्छा से भी मुक्त हो जाता है। उसके मन में यौन-जीवन, सामाजिक प्रतिष्ठा और धन का भोग करने की योजनाएँ उत्पन्न नहीं हो सकतीं। इस प्रकार वह भागवतोत्तम अर्थात् सर्वोच्च पद को प्राप्त भगवान् का शुद्ध भक्त माना जाता है।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार इस श्लोक में भगवद्भक्त के आचरण का वर्णन हुआ है। शुद्ध भक्त के कार्यकलाप भौतिक ईर्ष्या, मिथ्या गर्व, भ्रम तथा काम से रहित होते हैं। वैष्णव टीकाकारों के अनुसार इस श्लोक का *बीजानाम्* शब्द *वासना:* या प्रबल इच्छाओं का द्योतक है, जो धीरे धीरे उन कर्मों के रूप में फलित होती हैं, जिनके लिए जीव फलों का दास बनता है। इस तरह *काम-कर्म-बीजानाम्* सामासिक पद उस गहरे में गड़ी हुई इच्छा का सूचक है, जिससे यौन आनन्द और यौन-आनन्द के विस्तारित साधनों के भोग के माध्यम से भौतिक जगत पर रोब जमाया जाता है, जिसका उल्लेख *भागवत* (५.५.८) में *गृहक्षेत्रसुताप्तवित्तै*—सुन्दर आवास, उदर भरण के लिए अच्छा भोजन उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त भूमि तथा बच्चे, मित्र, सामाजिक सम्पर्क एवं प्रचुर बैंक बचत के रुप में हुआ है। मनुष्य द्वारा पूरी तरह से यह भुलाने के लिए कि वह भगवान् का नित्य दास है, ये सारी भौतिक वस्तुएँ आवश्यक हैं। इसलिए जैसाकि *भागवत* में कहा गया है—*जनस्य मोहोऽयम् अहं ममेति*—भौतिक माया की इन वस्तुओं से उन्मत्त हुए बद्धजीव को यह विश्वास हो जाता है कि वह ब्रह्माण्ड का केन्द्रबिन्दु है और संसार की हर वस्तु उसकी इन्द्रियतृप्ति के लिए बनी है। जो कोई ऐसे मायामय भोग में बाधक बनता है, वह तुरन्त उसका शत्रु बन जाता है और मार डालने पर उतारु रहता है।

इस देहात्म-बुद्धि तथा माया के पाश के कारण सारा जगत ईर्ष्या तथा काम-वासना से उत्पन्न संघर्ष से बुरी तरह विचलित हो रहा है। इसका एकमात्र सम्भव हल यही है कि यहाँ पर वर्णित भगवान् के शुद्ध भक्तों के नेतृत्व को स्वीकार कर लिया जाये। ''शक्ति से भ्रष्टाचार फैलता है और परम सत्ता तो पूर्णरूपेण भ्रष्ट करती है''—यह कहावत भले ही भौतिक जगत में वैध हो, किन्तु यहाँ यह विशेष रूप से उल्लेख हुआ है कि भगवान् के चरणकमलों में शरण लेने वाला शुद्ध भक्त भौतिक ईर्ष्या तथा इन्द्रियतृप्ति में शामिल होने की बात सोच भी नहीं पाता। उसका मन सदैव निर्मल तथा गम्भीर रहता है और वह प्रत्येक जीव के चरम कल्याण से अवगत रहता है। कृष्णभावनामृत आन्दोलन पृथ्वी के कष्ट भोग रहे जीवों को यह बताने का भरसक प्रयत्न कर रहा है कि मानव समाज में मस्तिष्क की परम आवश्यकता है। ज्वर से विकृत मस्तिष्क उचित निर्देशन नहीं कर सकता और यदि समाज के तथाकथित चिन्तक स्वार्थ परक विचारों से जल रहे हैं, तो वे ज्वर से रुग्ण सन्निपातग्रस्त मस्तिष्क के

समान है। सन्निपातग्रस्त सरकारें धीरे धीरे मानव समाज के सारे सुख को चौपट किये दे रही हैं। इसलिए वैष्णव उपदेशकों का कर्तव्य है कि *भागवतोत्तम* पद पर कर्म करें, जिससे वे मानवता को स्पष्ट दिशा-निर्देश दे सकें और सन्त-पुरुषों को दिये जाने वाले भौतिक ऐश्वर्य द्वारा तनिक भी भ्रष्ट या आकर्षित न हो सकें। सारे बुद्धिमान मनुष्य, जो सीधे भक्तियोग विधि को ग्रहण नहीं कर सकते हैं, कम से कम इतने तो शिक्षित हों कि भगवान् के उत्तम कोटि के भक्त को मान्यता देकर उनका मार्गदर्शन स्वीकार करें। इस तरह मानव समाज अच्छे तरीके से संगठित किया जा सकता है, जिससे न केवल सभी मनुष्य अपितु पशु, पक्षी और वृक्ष भी जीवन में प्रगति कर सकते हैं और आनन्द तथा ज्ञान के नित्य जीवन हेतु क्रमश: भगवद्धाम वापस जा सकते हैं।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने बल दिया है कि जो लोग कृष्णभावनामृत में पूर्णता प्राप्त करने के लिए सच्चे मन से इच्छुक हैं उन्हें वैष्णव समुदाय में रहना चाहिए। श्रील प्रभुपाद ने भी अपने ग्रंथों में कई बार उल्लेख किया है कि तब तक पूर्ण कृष्णभावनामृत की अवस्था प्राप्त नहीं की जा सकती, जब तक विश्व-भर में अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ द्वारा स्थापित कृष्णभावनाभावित समुदायों में रह कर शुद्ध भक्तों की शरण ग्रहण नहीं की जाती। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने बल दिया है कि इसका अर्थ यह नहीं है कि आध्यात्मिक जीवन मन्दिर परिसर में रहने वाले ब्रह्मचारियों तक ही सीमित है। गृहस्थ आश्रम के भक्तगण भी मन्दिर के उत्सवों में नियमित रूप से उपस्थित होकर वैष्णव समुदाय की शरण ले सकते हैं। जो लोग गृहस्थ जीवन बिता रहे हैं, उन्हें चाहिए कि नित्य ही भगवान् के अर्चाविग्रह का दर्शन करें, उनके सामने उनके नाम का कीर्तन करें और *भगवद्गीता* तथा *भागवत* पर विद्वानों की चर्चाएँ सुनें। कोई भी गृहस्थ जो इन आध्यात्मिक सुविधाओं का नियमित लाभ उठाता है और आध्यात्मिक जीवन के विधि-विधानों—मांसाहार न करने, अवैध यौन न करने, जुआ न खेलने तथा नशा न करने—का पालन करता है उसे वैष्णव समुदाय का वैध सदस्य मान लेना चाहिए। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार, जो लोग भगवद्भक्ति के शत्रु बने रहते हैं, उन्हें भगवान् की माया के हाथों की निर्जीव कठपुतलियाँ समझना चाहिए।

न यस्य जन्मकर्मभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः ।

सज्जतेऽस्मिन्नहंभावो देहे वै स हरेः प्रियः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; यस्य—जिसका; जन्म—अच्छे जन्म से; कर्मभ्याम्—या अच्छे कार्यों से; न—नहीं; वर्ण-आश्रम—वृत्तिपरक नियमों या धार्मिक कर्तव्य में दृढ़ रहकर; जातिभिः—अथवा किसी जाति से सम्बन्धित होने से; सज्जते—अपने को जोड़ता है; अस्मिन्—इस; अहम्-भावः—अहंकार की भावना; देहे—शरीर में; वै—निस्सन्देह; सः—वह; हरेः—भगवान् हरि को; प्रियः—प्रिय है।

उच्च कुल में जन्म तथा तपोमय एवं पुण्यकर्मों का निष्पादन निश्चय ही किसी को अपने ऊपर गर्व जताने वाले हैं। इसी तरह, यदि समाज में किसी को प्रतिष्ठा मिलती है, क्योंकि उसके माता-पिता वर्णाश्रम की सामाजिक प्रणाली में अत्यधिक आदरित हैं, तो वह और भी ज्यादा पागल हो जाता है। किन्तु यदि इतने उत्तम भौतिक गुणों के उपरांत भी कोई व्यक्ति अपने भीतर तनिक भी गर्व का अनुभव नहीं करता, तो उसे भगवान् का सर्वाधिक प्रिय सेवक माना जाना चाहिए।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार *जन्म* शब्द *मूर्धावसिक्त:* (ब्राह्मण पिता तथा क्षत्रिय माता से उत्पन्न सन्तान) तथा *अम्बष्ठ* (ब्राह्मण पिता तथा वैश्य माता से उत्पन्न सन्तान) जातियों के लिए आया है और ये दोनों *अनुलोम* माने जाते हैं, क्योंकि पिता उच्च जाति का होता है। ऐसे विवाह जिनमें माता उच्च जाति की और पिता निम्न जाति का होता है *प्रतिलोम* कहलाते हैं। ऐसे में जो भी अपने तथाकथित प्रतिष्ठित जन्म पर गर्व करता है, वह निश्चित रूप से देहात्म बुद्धि को प्राप्त होता है। किसी भी भौतिक देह में जन्म गम्भीर समस्या है, जिसका समाधान भगवान् की शरण ग्रहण करके करना चाहिए। इस तरह वह तथाकथित उच्चकुलीन भौतिक शरीर की स्वर्णिम जंजीरों से अपने को छुड़ा सकता है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार कनिष्ठ अधिकारी यह सोचते हैं कि *कर्ममिश्र भक्ति* ही आध्यात्मिक जीवन का चरम अवस्था है। वे ऐसे श्लोकों के प्रति अनुरक्त हो जाते हैं, जैसे कि—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।

विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत् तत्तोषकारणम्॥

"भगवान् विष्णु की पूजा वर्ण तथा आश्रम प्रणाली में नियत कर्तव्यों के उचित सम्पादन द्वारा की जाती है। भगवान् को तुष्ट करने का इसके अतिरिक्त दूसरा साधन है भी नहीं। मनुष्य को चारों वर्णों तथा आश्रमों के संस्थान में स्थित होना चाहिए।" (विष्णु पुराण ३.८.९) इस प्रकार वे सोचते हैं कि

भौतिक कर्म, जिसमें फल का थोड़ा अंश ईश्वर को अर्पित किया जाता है, मनुष्य-जीवन का सर्वोच्च पद है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार ऐसे कई स्मृति ग्रंथ हैं, जिनमें ऐसी मिश्र भक्ति को प्रोत्साहन दिया गया है। भौतिक शरीर के प्रति अहंवादी लगाव के कारण भौतिकतावादी भक्त ऐसे ग्रंथों को भगवान् का नाम बदनाम करने का बहाना बना लेते हैं। इस तरह मनुष्य सोचता है कि वर्णाश्रम प्रणाली में जन्म तथा तथाकथित पुण्यकर्मों के अनुसार प्रतिष्ठित स्थान का होना जीवन में सफल होने के लिए अनिवार्य है।

किन्तु जिन लोगों ने वास्तव में कृष्ण-नाम की शरण ले रखी है, वे न तो इस जगत में अपने जन्म के विषय में डींग मारते हैं न ही भौतिक कर्म में अपनी तथाकथित पटुता पर गर्व करते हैं। जब तक मनुष्य की मनोवृत्ति वर्णाश्रम प्रणाली की भौतिक उपाधियों से बोझिल बनी रहेगी, तब तक भौतिक बन्धन से मुक्त होने और भगवान् का प्रिय बनने के बहुत कम अवसर हैं। इस सम्बन्ध में श्री चैतन्य महाप्रभु ने एकस्वर से घोषित किया था कि वे अपनी पहचान किसी वर्णाश्रम उपाधि से यथा महान् विद्वान या पुरोहित, भगवान् की सेना का साहसी योद्धा, भगवान् के लिए धन कमाने वाला प्रखर व्यापारी या भगवान् का सबसे कठिन काम करने वाले के रूप में नहीं कर सके। न ही वे अपने को महान् ब्रह्मचारी या उत्तम गृहस्थ या उच्च संन्यासी मानते थे। ये उपाधियाँ भौतिक गर्व को प्रतिबिम्बित करती हैं, जो भक्ति सम्पन्न करने में भीतर प्रवेश कर सकती हैं। यद्यपि भक्त वर्णाश्रम के आदर्श कर्तव्यों का निर्वाह कर सकता है, किन्तु उसकी एकमात्र उपाधि *गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः*—अर्थात् गोपियों के स्वामी भगवान् कृष्ण के दास के दास का भी दास है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार, जब भक्त समझ लेता है कि भक्तियोग की प्रक्रिया अपने आप में पूर्ण हो चुकी है और वह भगवान् की महिमा के श्रवण तथा कीर्तन में लीन रहने लगा है, तो परम करुणामय भगवान् ऐसे उत्तम भक्त को अपनी गोद में उठा लेते हैं। भगवान् को केवल अनन्य भक्ति द्वारा प्रसन्न किया जा सकता है—न तो पाँच तत्त्वों वाले इस स्थूल शरीर से, न ही चिन्तन तथा व्यर्थ के अहंकार से युक्त सूक्ष्म शरीर से। दूसरे शब्दों में, कृष्ण को कभी भी तथाकथित राजसी शरीर से, जिसे कीड़े या गीधें खा जायेंगी, प्रसन्न नहीं किया जा सकता। यदि कोई व्यक्ति अपने जन्म तथा तथाकथित पुण्यकर्मों से गर्वित होता है, तो इस मिथ्या गर्व से वह कर्मफल को त्यागने की

निर्विशेष मनोवृत्ति या फिर कर्मफल भोगने की कर्मी मनोवृत्ति उत्पन्न कर लेता है। न तो कर्मीजन, न ही ज्ञानीजन इस बात से अवगत होते हैं कि कर्मफल तो वास्तव में कृष्ण का है। निष्कर्ष यह निकलता है कि मनुष्य को सारा मिथ्या अहंकार छोड़ कर यह स्मरण रखना चाहिए कि वह कृष्ण का विनीत सेवक है। जैसाकि चैतन्य महाप्रभु ने कहा है *अमानिना मानदेन कीर्तनीय: सदा हरि:।*

न यस्य स्व: पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा ।
सर्वभूतसम: शान्त: स वै भागवतोत्तम: ॥५२॥

शब्दार्थ

न—नहीं है; यस्य—जिसका; स्व: पर: इति—अपना तथा पराया; वित्तेषु—अपनी सम्पत्ति के विषय में; आत्मनि—अपने शरीर के विषय में; वा—अथवा; भिदा—द्वैत के रूप में सोचते हुए; सर्व-भूत—सारे जीवों के प्रति; सम:—समान; शान्त:—शान्त; स:—वह; वै—निस्सन्देह; भागवत-उत्तम:—भक्तों में श्रेष्ठ।

जब भक्त उस स्वार्थमयी धारणा को त्याग देता है, जिससे मनुष्य सोचता है कि ''यह मेरी सम्पत्ति है और वह पराई है'' तथा जब वह अपने ही भौतिक शरीर से सम्बद्ध आनन्द अथवा अन्यों की असुविधाओं के प्रति उदासीनता से कोई वास्ता नहीं रखता, तो वह पूरी तरह शान्त तथा तुष्ट हो जाता है। वह अपने आपको उन जीवों में से एक मानता है, जो समान रूप से भगवान् के भिन्नांश हैं। ऐसा तुष्ट वैष्णव भक्ति के सर्वोच्च आदर्श पर स्थित माना जाता है।

तात्पर्य : *सर्वभूतसम:* वाक्यांश में भगवान् के प्रति दृष्टिकोण सम्मिलित नहीं है। इस सन्दर्भ में श्रील मध्वाचार्य ने *हरिवंश* से उद्धरण दिया है—

न क्वापि जीवं विष्णुत्वे
संसृतौ मोक्ष एव च।

''किसी भी अवस्था में चाहे बद्ध जीवन हो या मोक्ष, जीव को भगवान् विष्णु के तुल्य नहीं मानना चाहिए।'' निर्विशेषवादी दार्शनिकों को यह चिन्तन करने में मजा आता है कि यद्यपि हम वर्तमान माया के भ्रम में पृथक्-पृथक् जीव प्रतीत होते हैं, किन्तु मोक्ष प्राप्त होने पर हम सभी लोग ईश्वर में मिलकर ईश्वर बन जायेंगे, किन्तु ऐसे मनमाने चिन्तक शायद इसका तर्क नहीं दे पायेंगे कि सर्वशक्तिमान ईश्वर किस तरह ऐसी आकुलतापूर्ण स्थिति में पहुँच सकेंगे, जिसमें उन्हें किसी योग-कक्ष में प्रवेश करना पड़े, साप्ताहिक फीस देनी पड़े, अपनी नासिका को दबाना पड़े और दिव्यता को पुन: प्राप्त करने के लिए मंत्रों के उच्चारण करने पड़े? जैसाकि वेदों में कहा गया है—*नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको*

बहूनां यो विदधाति कामान्। जीव का एकत्व या नानात्व भौतिक जगत का परिणाम नहीं है। *नित्यानाम्* शब्द, जो कि नित्य जीवों की बहुलता का द्योतक है स्पष्ट सूचित करता है कि सारे जीव भगवान् के भिन्नांश हैं, जो कि एक अद्वितीय जीव है, जिसे यहाँ *एक:* कहा गया है। *भगवद्गीता* (१.२१) में अर्जुन ने कृष्ण से कहा—*रथं स्थापय मेऽच्युत*—हे अच्युत! मेरे रथ को सेनाओं के मध्य में ले चलो। यह शरीर भी *रथ* है, अतएव सबसे अच्छी नीति यही होगी कि अच्युत भगवान् से प्रार्थना की जाय कि हमारे बद्ध शरीर का जिम्मा लें और भगवद्धाम वापस जाने का मार्ग दिखलायें। *अच्युत* का अर्थ है ''जो कभी गिरता नहीं''। विद्वान या विवेकवान मनुष्य इस मूर्खतापूर्ण मत को कभी नहीं मानेंगे कि सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ ईश्वर माया के कारण लड़खड़ाया और गिर गया है। कोई चाहे कितना ही क्यों न सोचे भगवान् के चरणकमलों पर हमारे नित्य दासत्व को कोई नहीं मिटा सकता।

वस्तुत: स्वयं भगवान् ने *वराह पुराण* में कहा है—

नैवं त्वयानुमन्तव्यं जीवात्माहमिति क्वचित्।

सर्वैर्गुणैर्सुसम्पन्नं दैवं मां ज्ञातुमर्हसि॥

''तुम मुझे कभी जीवात्माओं की श्रेणी में सामान्य जीव नहीं समझना। वस्तुत: मैं समस्त ऐश्वर्यों तथा दैवी गुणों का आगार हूँ, अतएव तुम्हें जान लेना चाहिए कि मैं परम ईश्वर हूँ।''

श्रील जीव गोस्वामी तथा श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार *श्रीमद्भागवत* का यह श्लोक किसी वस्तु को भगवान् की सेवा में प्रयुक्त करने से मना नहीं करता, क्योंकि भक्त को छूट है कि भगवान् कृष्ण की सेवा के लिए वह चाहे किसी भी उपयुक्त वस्तु का प्रयोग करे। कृष्ण की सेवा के लिए उपयुक्त वस्तुओं को स्वीकार करना *युक्त-वैराग्य* कहलाता है। जैसाकि श्रील रूप गोस्वामी ने कहा है—*निर्बन्ध: कृष्णसम्बन्धे*—मनुष्य को कृष्ण के प्रति अनुरक्त होना चाहिए, अपने लिए तो कभी नहीं। यदि कोई इस श्लोक का यह अर्थ लगाता है कि किसी भी भौतिक वस्तु पर नियंत्रण नहीं रखना चाहिए, भले ही वह कृष्ण की सेवा के उपयुक्त हो, तो वह बुरे ज्ञान में जा गिरता है, जिसे *फल्गु-वैराग्य*—अधकचरा वैराग्य कहते हैं। महाराज युधिष्ठिर तथा महाराज परीक्षित जैसे बड़े बड़े राजाओं ने सारी पृथ्वी को और अन्य वैष्णवों ने सारे ब्रह्माण्ड को कृष्ण-सेवा में लगा दिया था। किन्तु उन्होंने अपने स्वामित्व भाव को पूरी तरह त्याग दिया था। यही बात इस श्लोक में कही गई है। जिस तरह

कोई व्यक्ति अपने शरीर की पीड़ा से चिन्तित हो उठता है, उसी तरह उसे बद्धजीवों को भक्ति के स्तर पर लाने के लिए चिन्तित होना चाहिए, जिससे उनके सारे कष्ट सदा सदा के लिए समाप्त हो जाँय। एक शरीर तथा दूसरे शरीर में अन्तर न करने का वास्तविक तात्पर्य यही है।

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ।
न चलति भगवत्पदारविन्दा-
ल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाछ्यः ॥५३॥

शब्दार्थ

त्रि-भुवन—भौतिक ब्रह्माण्ड के तीनों लोकों के; विभव-हेतवे—ऐश्वर्य हेतु; अपि—भी; अकुण्ठ-स्मृतिः—जिसकी स्मृति अविचल है; अजित-आत्म—अपराजेय भगवान् ही जिसकी आत्मा है उसकी; सुर-आदिभिः—देवताओं तथा अन्यों द्वारा; विमृग्यात्—खोजे जाते हैं; न चलति—चला नहीं जाता; भगवत्—भगवान् के; पद-अरविन्दात्—चरणकमलों से; लव—एक सेकंड के ८/४५ वें भाग के; निमिष—अथवा उससे तीन गुना का; अर्धम्—आधा; अपि—भी; यः—जो; सः—वह; वैष्णव-अछ्यः—भगवान् विष्णु के भक्तों में सर्वश्रेष्ठ।.

भगवान् के चरणकमलों की खोज ब्रह्मा तथा शिव जैसे बड़े बड़े देवताओं द्वारा भी की जाती है, जिन्होंने भगवान् को अपना प्राण तथा आत्मा स्वीकार कर रखा है। भगवान् का शुद्ध भक्त उन चरणकमलों को किसी भी अवस्था में नहीं भूलता। वह भगवान् के चरणकमलों की शरण एक क्षण के लिए भी नहीं—आधे क्षण के लिए भी नहीं—छोड़ पाता भले ही बदले में उसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का शासन तथा ऐश्वर्य-भोग का वर क्यों न मिले। भगवान् के ऐसे भक्त को वैष्णवों में सर्वश्रेष्ठ मानना चाहिए।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार यह प्रश्न किया जा सकता है "यदि किसी को भगवान् के चरणकमलों को आधे क्षण भी छोड़ने के बदले सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का ऐश्वर्य मिल जाय तो इतने अल्प समय के लिए भगवान् के चरणकमलों को छोड़ने में क्या हानि हो जायेगी?" इसका उत्तर *अकुण्ठ-स्मृति* शब्द द्वारा दिया गया है। शुद्ध भक्त के लिए भगवान् के चरणकमलों का विस्मरण असम्भव है, क्योंकि प्रत्येक विद्यमान वस्तु वास्तव में भगवान् का अंश है। चूँकि कोई भी वस्तु भगवान् से पृथक् नहीं है, अतएव भगवान् का शुद्ध भक्त भगवान् के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं सोचता। न ही शुद्ध भक्त ब्रह्माण्ड के ऐश्वर्य को भोगने या उस पर शासन करने का विचार मन में ला सकता है। यदि उसे

ब्रह्माण्ड का सारा ऐश्वर्य दे भी दिया जाय, तो वह उसे तुरन्त भगवान् के चरणकमलों पर अर्पित कर देगा और भगवान् के विनीत दास की स्थिति में लौट आएगा।

अजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् शब्द इस श्लोक में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। भगवान् कृष्ण के चरणकमल इतने ऐश्वर्यशाली हैं कि भौतिक ऐश्वर्य के स्वामी ब्रह्मा, शिव तथा अन्य देवता भी भगवान् के चरणकमलों की झलक पा लेने के लिए लालायित रहते हैं। *विमृग्यात्* शब्द सूचित करता है कि वास्तव में देवतागण भगवान् के चरणकमलों का दर्शन नहीं कर पाते, अपितु वे उनका दर्शन पाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। इसका एक उदाहरण दसवें स्कन्ध में दिया हुआ है, जब विष्णु से प्रार्थना करते हुए ब्रह्मा उनसे पृथ्वी के उत्पात को दूर करने के लिए कहते हैं।

ऐसा ही श्लोक *श्रीमद्भागवत* में अन्यत्र (११.१४.१४) प्राप्त है :

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं

न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।

न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा

मय्यर्पितात्मेच्छति मद् विनान्यत्॥

''जो भक्त मुझे अपनी आत्मा अर्पित कर देता है, वह ऐसा कुछ भी नहीं चाहता, यदि वह मुझसे पृथक् है—न तो ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च देवता ब्रह्मा का पद, न इन्द्र का पद, न पूरी पृथ्वी के ऊपर अथवा अधोलोकों पर राज्य, न योग की सिद्धि, न ही पुनर्जन्म के चक्र से मुक्ति।''

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार *अजितात्मा* शब्द का अर्थ *अजितेन्द्रिया:* भी हो सकता है अर्थात् वे जिनकी इन्द्रियाँ अनियंत्रित हैं। यद्यपि सभी देवताओं को विष्णु-भक्तों के रूप में सम्मान देना चाहिए, किन्तु उच्च लोकों में स्थूल भौतिक असुविधा का अभाव होने से वे देहात्म बुद्धि द्वारा प्रभावित होने लगते हैं और कभी कभी राजसी भौतिक सुविधाएँ प्राप्त होने के कारण उन्हें कुछ कुछ आध्यात्मिक कठिनाई भी होने लगती है। किन्तु भगवान् के शुद्ध भक्त के मन में ऐसे उत्पातों के लिए स्थान नहीं रहता, जैसाकि *अकुण्ठ-स्मृति* शब्द द्वारा इस श्लोक में सूचित किया गया है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार हम इस श्लोक से यह समझ सकते हैं कि क्योंकि भगवान् का शुद्ध भक्त ब्रह्माण्ड के किसी भी लोक में उपलब्ध किसी भी भौतिक सुविधा से विपथ नहीं हो

सकता, अत: ऐसा भक्त कभी भी संभवत: न तो भगवद्भक्ति से च्युत हो सकता है न उसका शत्रु बन सकता है।

भगवत उरुविक्रमाङ्घ्रिशाखा-
नखमणिचन्द्रिकया निरस्ततापे ।
हृदि कथमुपसीदतां पुन: स
प्रभवति चन्द्र इवोदितेऽर्कताप: ॥ ५४॥

शब्दार्थ

भगवत:—भगवान् का; उरु-विक्रम—महान् वीरतापूर्ण कार्य कर चुका; अङ्घ्रि—चरणकमलों के; शाखा—अँगुलियों के; नख—नाखूनों के; मणि—मणियों सदृश; चन्द्रिकया—चाँदनी द्वारा; निरस्त-तापे—पीड़ा के दूर हो जाने पर; हृदि—हृदय में; कथम्—किस तरह भला; उपसीदताम्—पूजा करने वालों को; पुन:—फिर से; स:—वह पीड़ा; प्रभवति—अपना प्रभाव दिखाती है; चन्द्रे—चन्द्रमा के; इव—सदृश; उदिते—उदय होने पर; अर्क—सूर्य का; ताप:—जलती गर्मी।

जो लोग भगवान् की पूजा करते हैं, उनके हृदयों को भौतिक कष्ट रूपी आग भला किस तरह जलाती रह सकती है? भगवान् के चरणकमलों ने अनेक वीरतापूर्ण कार्य किये हैं और उनके पाँव की अँगुलियों के नाखून मूल्यवान मणियों सदृश लगते हैं। इन नाखूनों से निकलने वाला तेज चन्द्रमा की शीतल चाँदनी सदृश है, क्योंकि वह शुद्ध भक्त के हृदय के भीतर के कष्ट को उसी तरह दूर करता है, जिस तरह चन्द्रमा की शीतल चाँदनी सूर्य के प्रखर ताप से छुटकारा दिलाती है।

तात्पर्य : जब चन्द्रोदय होता है, तो उसकी किरणों के विस्तार से सूर्य की भीषण गर्मी का कष्ट दूर हो जाता है। इसी तरह भगवान् के चरणकमलों के नाखूनों से निकलने वाली शीतल किरणें शुद्ध भक्त के सारे कष्ट दूर कर देती हैं। वैष्णव टीकाकारों के अनुसार इस श्लोक से यह अर्थ ग्रहण करना चाहिए कि भौतिक काम-वासना अर्थात् अनियंत्रित कामेच्छा प्रज्वलित अग्नि के तुल्य है। इस अग्नि की लपटें बद्धजीव की शान्ति तथा सुख को भस्म कर डालती हैं, जो निरन्तर ८४,००,००० योनियों में भटकता है और इस असह्य आग को बुझाने का व्यर्थ संघर्ष करता रहता है। भगवान् के शुद्ध भक्त मणि सदृश शीतलता प्रदान करने वाले भगवान् के चरणकमलों को अपने हृदय में रख लेते हैं और इस तरह संसार के सारे कष्ट तथा पीड़ा दूर हो जाते हैं।

उरु-विक्रमाङ्घ्र शब्द द्योतित करता है कि भगवान् के चरणकमल शौर्य से पूर्ण हैं। श्रीकृष्ण अपने वामन-अवतार के लिए प्रसिद्ध हैं, जिन्होंने अपने चरणों के सुन्दर अँगूठों को ब्रह्माण्ड की बाह्य सीमा

तक विस्तारित कर दिया और ब्रह्माण्ड के कोश में छेद बना दिया, जिससे पवित्र गंगाजल इस ब्रह्माण्ड में आ सका। इसी तरह जब भगवान् कृष्ण असुर-राज कंस को ललकारने मथुरा नगरी में प्रवेश कर रहे थे और कुवलयापीड़ नामक भयानक हाथी ने उनका मार्ग रोका, तो कृष्ण ने अपने पाद-प्रहार से उस हाथी को मार डाला और नगरी के द्वारों से होकर भीतर प्रवेश कर गये। भगवान् कृष्ण के चरणकमल इतने पूज्य हैं कि वैदिक वाङ्मय का कथन है कि सारा जगत उन्हीं के चरणकमलों के नीचे टिका है—*समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं महत्पदं पुण्ययशो मुरारेः ।* (भागवत १०.१४.५८)

विसृजति हृदयं न यस्य साक्षा-
द्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः ।
प्रणयरसनया धृताङ्घ्रिपद्मः
स भवति भागवतप्रधान उक्तः ॥५५॥

शब्दार्थ

विसृजति—त्याग देता है; हृदयम्—हृदय को; न—कभी नहीं; यस्य—जिसका; साक्षात्—स्वयं; हरिः—भगवान् हरि; अवश—सहसा; अभिहितः—कहलाने वाला; अपि—यद्यपि; अघ—पापों के; ओघ—समूह; नाशः—नाश करने वाला; प्रणय—प्रेम की; रसनया—रस्सियों द्वारा; धृत—पकड़े; अङ्घ्रि-पद्मः—उनके चरणकमल; सः—वह; भवति—है; भागवत-प्रधानः—सर्वश्रेष्ठ भक्त; उक्तः—कहा गया।

भगवान् बद्धजीवों के प्रति इतने दयालु हैं कि यदि वे जीव अनजाने में भी उनका नाम लेकर पुकारते हैं, तो भगवान् उनके हृदयों में असंख्य पापों को नष्ट करने के लिए उद्यत रहते हैं। इसलिए जब उनके चरणों की शरण में आया हुआ भक्त प्रेमपूर्वक कृष्ण के पवित्र नाम का कीर्तन करता है, तो भगवान् ऐसे भक्त के हृदय को कभी भी नहीं छोड़ पाते। इस तरह जिसने भगवान् को अपने हृदय के भीतर बाँध रखा है, वह भागवत-प्रधान अर्थात् अत्यधिक उच्चस्थ भक्त कहलाता है।

तात्पर्य : श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार इस श्लोक में शुद्ध भक्त के गुणों का सार दिया गया है। शुद्ध भक्त वह है, जिसने अपने प्रेम से भगवान् को इस तरह आकृष्ट कर रखा है कि वे भक्त के हृदय को छोड़ नहीं सकते। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार *साक्षात्* शब्द यह सूचित करता है कि सौन्दर्य समेत छहों ऐश्वर्यों के कारण सर्व-आकर्षक भगवान् कृष्ण को अपना हृदय दे देने के कारण शुद्ध भक्त को भगवान् का ज्ञान हो जाता है। शुद्ध भक्त कभी भी न तो स्त्रियों के मांसल स्तनों से, न तथाकथित समाज, मैत्री, एवं जगत-प्रेम के व्यामोह से आकृष्ट होता है। इसलिए उसका निर्मल हृदय भगवान् के

लिए उपयुक्त निवास बन जाता है। एक सभ्य व्यक्ति निर्मल स्थान में ही रहना चाहेगा। वह दूषित स्थान में नहीं रह सकता। पाश्चात्य देशों के शिक्षित जन आजकल शहरी औद्योगिक प्रतिष्ठानों द्वारा जल तथा वायु के प्रदूषण का अत्यधिक विरोध कर रहे हैं। वे स्वच्छ स्थान में रहने के अपने अधिकार की माँग कर रहे हैं। इसी प्रकार भगवान् कृष्ण परम भद्र व्यक्ति हैं, अतएव वे न तो दूषित हृदय में रहना चाहेंगे, न ही वे बद्धजीव के दूषित मन में प्रकट होंगे। जब भक्त भगवान् कृष्ण की शरण ग्रहण करता है और कृष्ण के सर्व-आकर्षक स्वभाव की प्रत्यक्ष अनुभूति द्वारा ईश्वर-प्रेमी बन जाता है, तो भगवान् ऐसे भक्त के निर्मल हृदय तथा मन को अपना निवासस्थान बना लेते हैं।

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार—*य एतादृशप्रणयवांस्तेनानेन तु सर्वदा परमावशेनैव कीर्त्यमानः सुतराम् एवमेवाघौघनाशः स्यात्।* यदि भक्त भगवान् कृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति में मग्न रहता है, तो वह इस सेवा द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से भगवान् की महिमा का बखान करता रहता है। अतः यदि वह भगवान् की सेवा में मग्न रहने के कारण आधी-अधुरी सर्तकता से भी कृष्ण-नाम कीर्तन करता रहता है, तो भगवान् की दया से उसके हृदय के सारे पाप धुल जाते हैं। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (२.१.११) में कहा गया है—

एतान्निर्विद्यमानानाम् इच्छताम् अकुतोभयम्।
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम्॥

"हे राजन्! महापुरुषों के पथ का अनुसरण करके भगवन्नाम का निरन्तर कीर्तन सबों के लिए संशयरहित तथा भयरहित सफलता का मार्ग है। इसमें वे सभी सम्मिलित हैं, जो सारी भौतिक इच्छाओं से मुक्त हैं, जो भौतिक भोग के इच्छुक हैं तथा वे भी जो दिव्य ज्ञान के बल पर आत्मतुष्ट हैं।" इसलिए यदि कोई दिव्य प्रेमाभक्ति के पद पर नहीं पहुँचा है, किन्तु कृष्ण-नाम का कीर्तन करता है, तो वह भी सारे पापों से मुक्त हो जायेगा। *श्रीमद्भागवत* के छठे स्कंध में अजामिल के जीवन के इतिहास का भावार्थ प्रस्तुत करते हुए श्रील प्रभुपाद ने विस्तार से बतलाया है कि पवित्र नाम में सामान्य व्यक्ति को भी शुद्ध करने की शक्ति है।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने भगवान् को वश में करने की सुन्दर विधि बतलाई है। माता यशोदा ने बालक कृष्ण को एक रस्सी द्वारा मूसल से बाँध दिया था। कृष्ण ने अपने भक्तों के अचिन्त्य

प्रेम के वशीभूत होकर अपने आपको बँधवा लिया। अतएव यद्यपि भगवान् कृष्ण सभी बद्धजीवों को अपनी माया की रस्सियों से बाँधते हैं, किन्तु वही बद्धजीव, शुद्ध भक्त बन जाते हैं, यदि वे कृष्ण को ईश्वर–प्रेम की जंजीरों से बाँध लें।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार पापकर्मों के कारण संसार की सारी अशुभ दशाएँ भगवन्नाम के कीर्तन से दूर की जा सकती हैं। भगवान् उन लोगों के हृदय को छोड़ कर कभी नहीं जाते, जो सारे पापपूर्ण आचरण त्याग कर भगवन्नाम का कीर्तन करते हैं। यदि ऐसा कीर्तन पूर्ण न भी हो, तो भगवान् की सेवा में नित्य लगे हुए भक्तों को क्रमशः *प्रेम–निष्ठा* अवस्था को प्राप्त होंगे। तब उन्हें *महाभागवत* माना जाना चाहिए।

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के अन्तर्गत ''महाराज निमि की नौ योगेन्द्रों से भेंट'' नामक दूसरे अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।